सामयिक प्रकाशन

समाज और इतिहास

नवीन शृंखला

1

हिंदी के स्त्री–साहित्य का उषाकाल
(1857–1947)

अनामिका

नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय
2013

NMML Occasional Paper

नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय

© अनामिका, 2013
सर्वाधिकार सुरक्षित। लेखिका की लिखित अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भी अंश का दोबारा प्रयोग पुनरोत्पादन किसी भी रूप में नहीं किया जा सकता। इसमें व्यक्त विचार, अर्थनिर्धारण तथा निष्कर्ष पूर्णतः लेखिका के हैं और किसी भी तरह, पूर्णरूपेण अथवा अंशतः, नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय के विचारों को नहीं दर्शाते।

प्रकाशक :

नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय
तीन मूर्ति भवन
नई दिल्ली–110011

ई.मेल : ddnehrumemorial@gmail.com

आईएसबीएन : 81-87614-91-9

मूल्य रूपये 100/- ; यूएस $ 10

पृष्ठ सज्जा और मुद्रण : ए.डी. प्रिंट स्टूडिओ, 1749 बी/6, गोविन्द पुरी, एक्सटेंशन कालकाजी, नई दिल्ली–110019. ई.मेल : studio.adprint@gmail.com

हिंदी के स्त्री–साहित्य का उषाकाल (1857–1947)

अनामिका*

आइए, उल्टी गंगा बहाते हैं ! पाठ–साक्ष्य पहले और पृष्ठभूमि उसके बाद ! यह वह समय था जब आपस में गुँथी हुई तीन लहरें साथ जगी थीं – राष्ट्रीय चेतना, स्त्री–चेतना और भाषिक चेतना ! समझ ही रहे हैं कि तीनों का सम्बन्ध अस्मिता से है। 'अस्मि' का मतलब : मैं हूँ ! ''अस्मिता' शब्द के पाठीय अवचेतन से हँसती हुई-सी एक दबी–ढँकी आवाज आती है "मैं (भी) हूँ! मुझे देखो, समझो और जानो ! जानना ही मानना है! जानोगे तो मानोगे और बात–बेबात जो मुझे मेरी औकात याद दिला देते हो – इस अपनी आदत से बाज आओगे; तुम्हारी आधारभूत इंसानियत में विश्वास नहीं खोया, इसलिए उम्मीद कायम है ! ... आँखों में पूर्वग्रह का कीच है, वही धोने लाई हूँ भाषा–जल से : 'उठो तात, अब आँखें खोलो'। देशकाल भी पुकारकर यही कह रहा है कि अब नहीं आँखें खोलीं तो बहुत देर हो जाएगी।''

1857 से 1920 तक का काल स्त्री–चेतना के विकास की दृष्टि से नवजागरण–काल माना जाए तो जिन स्त्री कवियों और गद्यकारों पर अलग से विचार करने की आवश्यकता है, उनकी केन्द्रीय पंक्तियों के दो कोलाज आपके सामने रखना चाहती हूँ, कुछ इस तरह कि तत्कालीन स्त्री–लेखन के मुख्य सरोकार स्पष्ट हो जाएँ! इन कोलाजों की ब्रह्मगाँठ (अपोरिया) खोलने के बाद हम मनःसामाजिक घटकों और उन राजनीतिक–आर्थिक परिस्थितियों पर आएँगे जिन्होंने यह वैचारिक ऊर्जस्विता सम्भव की।

* अनामिका, नेहरू स्मारक सग्रहालय एवं पुस्तकालय की यू० जी० सी० संबद्ध फेलो हैं। उनके शोध का विषय है– 'वीविंग अनेशन : विमेन्स राइटिंग इन दि प्रोटो–फेमिनिस्ट हिंदी–उर्दू वर्ल्ड' (1920–1947)

पहला कोलाज स्त्री–कवियों की केन्द्रीय पंक्तियों का : पहले लोकगीत, फिर हिंदी भद्रलोक की उन कवियों की बीज पंक्तियों का कोलाज जिनके माता–पिता, अन्य रिश्तेदार, पारिवारिक मित्र या भाई इतने जागृत थे कि स्त्री–शिक्षा की गुहार का मर्म समझकर उन्हें कन्या–पाठशाला भेजें या घर से ही 'विद्या–विनोदिनी' आदि परीक्षाएँ दिलाएँ। तरह–तरह की किताबें, पत्रिकाएँ पढ़ते हुए, गणमान्य नेताओं के भाषण और पिताओं, शिक्षकों, भाइयों की गपशप सुनते हुए उन्हें इतना तो समझ में आया ही कि 'कांतासम्मित उपदेश' का घेरा बढ़ रहा है! उद्‌बोधन सिर्फ 'कांत' या 'भ्राता' या 'पुत्रादि' का ही नहीं करना, उनके बहाने राष्ट्र–भर का करना है और उद्‌बोधन का सबसे सार्थक माध्यम है कविता। नैतिक आवेग या भावदीप्ति सोखने में कविता की छोटी–सी परिमिति स्पंज के छोटे टुकड़े का काम करती है – उसका रंध्र–रंध्र खुला होता है, तरह–तरह की उद्दीप्त स्वर–लहरियाँ और वाक्य–खण्ड, आपस की बातचीत में उभरे बिम्बादि वह चुपचाप पीती रहती है। 'लोककथा' के उस निष्कासित राजकुमार ने उजड़े जंगल की चिड़ियों और मधुमक्खियों से जो कहा था – 'आजा–पाजा, कान में समा जा' – कविता भी दैनन्दिन जीवन में पसरे पड़े बिम्बों से वही कहती है और देखते–देखते उसकी आंतरिक संरचना में ये बिम्ब ऐसे आत्मसात् हो जाते हैं जैसे कडाइलोस्कोप में टूटी हुई चूड़ियों की फूलदार छवियाँ। खास कोण से यंत्र–छिद्र पर आँखें भिड़ाएँ तो बाहर जो कुछ नैतिक धरातल पर बिखरा –बिखरा है – नैतिक भावदीप्ति में सँभल/सँवर–सा जाता है ! कविता की प्रकृति माँ की, बहन की, बेटी की प्रकृति है – उसकी भाषा अंतरंग भाषा है, घर का बिखराव ही नहीं सँभालती, मानसिक बिखराव भी सँभाल लेती है। अँगरेजीवाले इसी को "structuring of emotions" कहेंगे – अपनी हजार चुप्पियों में इसीलिए स्त्रियों की तरह स्त्री–कविता भी बोलती है और कभी भी आंतरिक उद्‌बोधन से बाज नहीं आती।

साहित्यिक भाषा के रूप में हिंदी अभी किशोरी ही थी। पर मुग्धा भाव–भूमि में उसका कैशोर्य नहीं गुजरा था, जन्म से ही वह एक सचेत, बुद्धिमती भाषा थी – तत्सम–तद्‌भव–देशज–विदेशज – सबकी ओर इसने दोस्ती का हाथ बढ़ाया था ! संयुक्त परिवार की नीतियाँ और कूटनीतियाँ – इसे पता थीं : 'कांतासम्मित उपदेश' को मैक्रो धरातल देना। 'बाला–सुबोधिनी' पढ़–पढ़कर बड़ी हुई स्त्रियों से उम्मीद तो यही की जाती थी कि

वे अच्छी गृहलक्ष्मियाँ बनें और वीरजननियाँ, घर का हिसाब–किताब रखने लायक हिसाब जानें और पातिव्रत्य को जीवन का परमधर्म, पर चाहते–न–चाहते कुछ गवाक्ष खुल गये और घर की सरहद बढ़ गयी; उस समय के लोकगीत भी इस बढ़ती सरहद का साक्ष्य वहन करते हैं :

(प्रसंग : 1857 की क्रांति)

– पाठ पै झिरना झिरत नइयाँ।
पारीछत को हाथी टरत नइयाँ।
भागे फिरंगी महोबे की जाँय।
परीछत राजा खदेड़त जाँय।
गोहुन की रोटी मारू गटां।
पारीछत के मारे कर गए गटां।
पारीछत दहाड़े हजारन में।
ढड़के फिरंगी पहारन में। (बुंदेली)

– 'जाहु–जाहु पिया तहूँ कुँवर की लड़इया में
छोड़ि देहू मदरइया रे हरी !
होके मरदाना अब मरदानी देखावइ।
देसवा में होत बा लड़इया रे हरी !
लागे जो लाज सरम, त घर में बइठि जाहू !
मरद से बनके लुगइया रे हरी !
पहिरि के साड़ी, चूड़ी, मुँहवा छिंपाई लेहु,
हम राखब तोहरी पगरिया रे हरी !' (भोजपुरी)

– शिशु–जन्म पर गाए जाने वाले 'खिलौना' का गीत –
बड़–बड़ कहलीं जतनवा, त सूरजू मनवली हो !
ललना जब रे किरपा भइलैं राम क
त गोदिया बलक खेले हो !
पुतवा के देबैं देस सेउआ में,
भारत माई के सेउवा में हो,

ललना, पुत मोरा करिहैं देस सेउवा
त जनम सुफल होइहैं हो ! (बज्जिका)

* * *

जिन स्त्रियों को शिक्षा की सुविधा नहीं मिली, उन्होंने लोकभाषा में ही प्रतिकार के औजार गढ़ लिए और यह सिद्ध किया कि कांता–सम्मत उपदेश घरेलू प्रसंगों में ही नहीं, बृहत्तर प्रसंगों में भी सही राह दिखा सकते हैं। बृहत्तर उद्देश्यों के लिए पति–परमेश्वर से झगड़ा भी किया जा सकता है, इतना भी 'परम' नहीं है वह, उसपर कटाक्ष किया जा सकता है। दूसरे लोकगीत में इंगित भूमिका – विपर्यय की बात भी सोची जा सकती है – "पहिरि के साड़ी, चूड़ी, मुँहवा छिपाइ लेहु/हम राखब तोहरी पगरिया रे हरी!"

* * *

अब आते हैं उन स्त्रियों के काव्य–कोलाज पर जिन्हें शिक्षा की सुविधा मिली या जो किसी–किसी तरह मनोयोगपूर्वक पढ़–लिख गईं और सेतु–भाषा के रूप में हिंदी का वरण जिन्हें आवश्यक जान पड़ा। यहाँ गौर करने की बात यह है कि हिंदी की ओर जाते हुए उन्होंने ब्रजभाषा से पूरी तरह नाता तोड़ा नहीं, ठीक उसी भाव से जैसे 'ससुराल' जाते हुए स्त्रियाँ 'मायके' से नाता तोड़ नहीं लेतीं और उनका टोन भी लोकगीत के मजाकिया तेवर वाला बना रहा – 'लुकोरिया' नामक रोग से अँगरेजों की परिहासपरक' तुलना यहाँ गौर करने लायक है –

"लुक छिप धीरे–धीरे देह में दखल कियो,
यासो अँगरेजी में 'लुकोरिया' कहायो है !
पाँव टेकि पायो नाना रूप दिखलायो तब;
रक्त, पीब आदि भाँति–भाँति रंग लायो है।।
मन को मलीन कियो, तन अति छीन कियो,
सन्तति–विहीन कियो, खूब ही सतायो है।
महिला–समाज बीच स्वास्थ्य–घन लूटने को;
मौका तकि प्रदर ने गदर मचायो है।"[1]

(कविता का मर्म स्थान 'गदर' है, वहीं से उसका अर्थ खुलता है; सिपाही विद्रोह को अँगरेजों ने 'म्यूटिनी' (विफल विद्रोह या गदर) कहा! 'गदर' शब्द का मूल अर्थ 'हंगामा' है। इसी अर्थ में इस शब्द का प्रत्यारोपण 'लुकोरिया' नामक रोग पर हुआ है और जो उसके लक्षण गिनाए गये हैं, उनसे स्पष्ट है कि भारत नामक स्त्री–शरीर में गदर मचाने वाला असल 'लुकोरिया' अँगरेज हैं)... गोपाल देवी ने स्त्री कविता का विषय–विस्तार अनन्त कर दिया : 'चमगीदड़', 'भेड़ और भेड़िया', 'धोबी और गधा', 'मौत और घसियारा' – सब इनकी व्यंजक प्रतीक कथाएँ हैं – सुन्दर छंद में बँधी। दोनों तरफ का पानी मारने वाले जमींदारों को 'चमगीदड़' कहती हुई वे लिखती हैं :

"हुई लड़ाई अन्त, अन्त में सुलह हुई दोनों दल में !
भेद खुला चमगीदड़ का सारा सब लोगों के मन में !
तब से वह ऐसा शर्माया, दिन में नहीं निकलता है।
अन्धेरे में छिपकर चरता, नहीं किसी से मिलता है।
समय पड़े जो दोनों दल की करते हैं 'हाँजी, हाँजी !
वे चमगीदड़ के समान दोनों की सहते नाराजी !"[2]

कांता–सम्मत उपदेश शैली का दूसरा उदाहरण प्रियम्वदा देवी हैं जिन्होंने उस युग में 'काम' पर लिखा यह समझते हुए कि काम–क्रोध–लोभ का अतिरेक ही पुरुष को अकाम्य बनाता है –

"गढ़े में बैठा काला नाग !
खुश होता है, वह सुन–सुनकर, भोगवाद के राग।
उसके मुख में शहद लगा है, किंतु गले में आग।
मृत्यु–दूत है, काम नहीं वह, करो शीघ्र ही त्याग।"[3]

नए समाज की नींव नए बच्चे होते हैं, और उन्हें माताएँ किस रंग में ढालें, इस बारे में एक कांता–सम्मित उपदेश स्वयं अपने नाम (शब्द–चयन में परिहास वाला स्वर जारी है)

"अरे बाप! यह काज हमैं सूझत अति भारी।"
"मैं नाहीं कर सकत", शब्द मुख तें न उचारैं।

"हाँ करिहौं उद्योग", सहित उत्साह पुकारैं।
सत्य भाव ते कहै करैं अरु बनैं न टालक।
अब भारत माताहिं चाहिये ऐसे बालक।"[4]

और अब गद्य की सैन्य टुकड़ियाँ

कविता जो कुछ इशारों में कहती रही, गद्य ने उसको विस्तार दिया। जीवन–जगत् की, चरित्रों की हजार विडम्बनाएँ इसने अपनी नवप्रसूतं विधाओं में प्रतिबिम्बित कीं। नए–पुराने, पूरब–पश्चिम के मेल से कई सुन्दर वर्ण–संकर विधाएँ पनपीं – उपन्यास और आख्यायिका के मेल से गल्प/कादम्बरी, बैलेड और वीरगाथाकाव्य के मेल से कथा–काव्य; आत्मस्वीकृति (कनफेशन) परम्परा में आत्मकथा ... इनके अलावा चरित्र–निर्माण के मॉडेल के रूप में कीर्तन–कथा, सुबोध–कथा, चरितावली आदि का नए छब–ढब में विकास हुआ। नवप्रसूत जरनलों के सम्पादकीयों और उनमें प्रकाशित अन्य विचारात्मक, व्यंग्यात्मक और ललित निबन्धों के रूप में निबंध विधा भी फली–फूली। 'गृहलक्ष्मी', 'स्त्री–दर्पण', 'आर्यकन्या', 'चाँद' आदि के सम्पादकीय बाद में विमर्शात्मक साहित्य का रूप पा गये। पत्र–डायरी–संस्मरण विधाएँ भी स्त्री–साहित्य के गर्भ में उभरती हुई सुन्दर विधाएँ थीं ! थोड़ा–थोड़ा करके हर दिन धारावाहिक पत्र लिखे जाते थे – परदेस सिधारे, कभी न लौटकर आ पाने वाले प्रियतम को ही नहीं, भाई–बाप–सखी और भगवान तक को निवेदित ये पत्र होते थे, पर माँ को निवेदित नहीं, शायद इसलिए कि उसे पत्र–पढ़ने–लायक शिक्षा दी ही नहीं गयी थी, उससे तो अहर्निश मनःसंवाद ही चलता रहता था स्त्रियों का, पर कई लोकगीत 'माई' को सम्बोधित हैं। वृद्धविवाह, बालविवाह और दहेज प्रथा पर कटाक्ष करती हुई गद्य–टुकड़ियों की फौज से कुछ उदाहरण :

"ब्याह करना ही ढुंढिराज का रोजगार है। वह अब तक ग्यारह 'कन्या' को ब्याह कर चुके हैं अर्थात् उन सबों का कुमारी नाम मिटा चुके हैं। चंद्रप्रभा का उद्धार करें तो पूरी बारह हो ! ... ढुंढिराज बोले, दहेज की बात पात्री की अवस्था के ऊपर निर्भर है ! कन्या की जितनी ही अवस्था विशेष होगी, उतना ही दहेज अधिक लगेगा ! यह बात आप नहीं जानते हैं, सो तो नहीं है? आप भी तो कुलीन हैं !"[5]

(दूसरे उदाहरण की पृष्ठभूमि एक श्राद्ध–समारोह है, मृत्यु–वेला में भी अर्थ–लाभ की प्रवृत्ति के प्रति व्यंग्य के तेवर द्रष्टव्य हैं, धार्मिक रीतियों पर कटाक्ष, गम्भीर बात भी परिहास में कहने का चलन जारी है)। रजनीकांत बोले – ''मुखोर्य महाशय, आपका बात अमृत के तुल्य है, अब श्रवण कीजिए। पिता उविल नहीं कर गये, किंतु हमारे ऊपर उनका आदेश था कि हम उनके 'अवर्त्तमान में उनके 'आश्रीत' अनुगत व्यक्ति (लोगों) के बीच हमा(रे) 'ईच्छा' अनुरूप उनको संचित अर्थ वितरण कर सकेंगे !"

देबनाथ मुखोर्य बोले, "देवता लोग मेघ को वरषने कहा करते हैं !"

रजनी बोले, "देवता लोग कभी–कभी पानी न बरसे, यह भी धराते हैं, अब आप लोग जानते हैं, हम कुछ कृपण हैं ! ... हम अपने मन से जीसको जो देते हैं सो श्रवण करो ! हमारी मध्यमा भगिनी शैलवती कहाँ है ?" एक जन स्त्रीलोग बोलीं, "वह नहीं आई, रोती है!"

"मध्यमा भगिनी को पंदरा हजार रु. दिए! तृतीय भगिनी शैलबाला कहाँ है ?"

शैलबाला प्रसन्नवदन से अग्रवर्त्तिनी हुई ! रजनी बोले – "तुमको 'दश' हजार रु. दिए !"

शैलबाला का प्रफुल्ल मुँह म्लान हुआ, ... रजनी बोले – "मध्यमा भगिनी तुमसे पाँच बरस की बड़ी है, इसी से !"

शैलबाला, "हम रु. नहिं चाहते !" कहकर रोते–रोते घर के बाहर चली गई ! रजनी अम्लान वदन से बोले, "तृतीया भगिनी रु. नहीं ली, हम उनका रुपया भी मध्यमा भगिनी को दिए !"

देवनाथ मुखोर्य बोले, "वह क्रोध करके गई, अभी 'फीर' आवेगी, आपके ऊपर क्रोध न करेगी तो किसके ऊपर करेगी !"

वह बात कान न देकर रजनीकांत फुआ–मौषि–भान्जे–भन्जि संबंधि मृत्यु प्रभृति को पितृ सचितार्थ वितरण किए, किंतु रजनीकांत देवनाथ मुखर्यि महाशय को कोई बात नहीं पूछते देखकर देवनाथ बोले, "तुम्हारा जेष्ठ भगिनी स्वर्ग में गई है !" उनका अंश हम पा सकते हैं !'' रजनी बोले, "आप जब उसके पास जाएँगे, तब आपके द्वारा उनका रुपया भेजेंगे !"

देवनाथ सूखी हँसी हँसकर बोले, "तब हमारा निज अंश ?" रजनी उत्तर दिए, "आपको एक रुपैया दिए !" देवनाथ प्रथम सोचे, रहस्य 'कीए' किंतु अब रजनी देह उठाकर चले, तब समझे कि रहस्य नहीं है, तब बोले, एक रुपया ही मारा एक लक्षि है।"[6]

* * *

अगले उदाहरण में बाल–विवाह द्वारा शापित बाल–विधवाओं का मर्मभेदी चित्रण है ! जिस उपन्यास का यह अंश है, उसमें 'हुक्मदेवी' नौकरी करती है, पर जब इज्जत पर बन आती है, कहती है –

"... घर में चाहे भूखी मर जाऊँ, पर अब किसी की नौकरी नहीं करूँगी। जिस जीविका में लज्जा और धरम जाता हो, ऐसी जीविका को चूल्हे में डालो!"[7]

इतने में एक स्त्री ने हुक्मदेवी की बाँह खींच उसकी लाल–लाल चूड़ियाँ फोड़ दीं, बालिका चूड़ियों को फूटा देख पृथ्वी 'पै' लोट गई और माता से पुकार–पुकार ऐसे में कहने लगी, ''माँ जल्दी अपने घर चल, हम यहाँ नहीं रहेंगी ! एक स्त्री ने मेरी सुंदर चूड़ियाँ फोड़ दी हैं, तुम पिता से कहकर मुझे आज ही दूसरी मँगा देना !"[8]

* * *

अगले उदाहरण में आंचलिक भाषा का मनहर प्रयोग है ! 'दुलाई वाली' कहानी में जनाना डिब्बे में बैठी स्त्री पति के स्टेशन पर छूट जाने की आशंका में रोने लगती है तो स्त्रियाँ आपस में यह मज़ेदार संवाद करती हैं।

संघशक्ति, सहानुभूति, राग, परिहास, चिंता–चित्त के सब रंग सहज बहनापे से उद्दीप्त इस भाषा में खुलकर होली खेलते हैं। इरेगरी उच्छल भाषा–प्रवाह के इसी रंग को push and joy of language कहतीं –

"अरे इनकर मनई तो नाहीं अइलन! हो देख हो रोवल करथईन!"

दूसरी, 'अरे दुसर गाड़ी में बैठी हाइहैं।'

पहली, 'दुर बौरही जनानी गाड़ी थोड़े है!

दूसरी, 'तऊ को भल तोकतू'! कहकर दूसरी भद्र महिला से पूछने लगी, "कौन गाँव उतरहू बेटा? मीरजेपूरा चढ़ी हउ न?' इसके जवाब में उसने जो कहा, सो वह सुन न सकी ! तब पहली बोली, –हट हम पूछिला न ? हम कहाँ, कहाँ उतरबू हो? आँय, ईलाहाबास?'

दूसरी, 'ईलाहाबास कौन गाँव हौ गोइयाँ?'

पहली, 'अरे नाहीं जनलू ? पेयागजी, जहाँ मनई मकर नहाए जाला।'

तीसरी स्त्री बोली, 'टिकसिया पल्ले बाय दौं नाहीं? सहोबवा देखी तो कलकत्ता ताई ले मसुलिया लेई ! अरे इहो तो नाहीं कि दूर से आवत रहलेन फरागत के बदे उतरलेन !'

चौथे, 'हम तो इनके संघे के आदमी के देखबौ ना किहा गोइयाँ !'

तीसरी, "हम देखे रहली हो, मजेक टोपी दिहलेन हो !"[9]

* * *

अगला उदाहरण विमर्शात्मक गद्य से – ''उमा के समान 'कोमल' और समय पर महाशक्ति उठाकर शत्रु का हृदयभेद करने वाली दुर्गा के समान 'प्रबल', अधिष्ठात्री महादेवी के समान गुणवंती बनाना ही इस पत्रिका का

आदर्श होगा।"[10]

और 1918 में ही उसकी समालोचना 'स्त्री दर्पण' में छपी तो जो कहा गया, वह भी सर्वसमावेशी (एक ही साँस में तत्सम–तद्भव–देशज–विदेशज बरत लेने वाली) स्त्री–भाषा के विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है :

"हमारी सम्मति में इस पत्रिका की भाषा बहुत ऊपर की ओर चढ़ गई है, भाषा तनिक सीधी–साधी होती तो साधारण स्त्रियों को भी इससे लाभ मिलने की आशा हो सकती, क्योंकि इस देश में बहुतेरे पुरुष भी 'आर्यमहिला' की भाषा भली–भाँति नहीं समझ सकते, स्त्रियाँ बेचारी तो अभी बहुत पीछे ही पड़ी हैं।"[11]

ध्यान देने की बात यह है कि जिस समय पुरुष 'तत्समप्रधान या हिंदवी' के प्रश्न पर उलझ रहे थे, स्त्रियाँ मिश्रित भाषा के संदर्भ में स्पष्ट मत बना चुकी थीं, भाषा–सम्बन्धी उनका दृष्टिकोण अधिकांशतः यह था कि सब स्रोतों के शब्द एक धरातल पर प्रतिष्ठित हों, किसी मूल का शब्द अछूत नहीं है, सबको एक पाँत पर बिठाना ही उचित है, तत्सम–तद्भव के बीच का पदानुक्रम झाड़ देना है। ... बाद के सारे स्त्री–जरनल 'स्त्री–दर्पण' की राह पर ही चले, 'आर्य महिला' की राह पर नहीं।

चलनी और सूप स्त्री–भाषा के विकास में सदा ही उपयोगी रहे ! 'सारि–सारि को गह के' थोथा उड़ा देने की मुद्रा व्यावहारिक स्त्री–बुद्धि को सदा से ग्राह्य रही। कोई अतिरेक नहीं करना, बीच की राह चुननी है ! स्त्री–दृष्टि का यह निकष 'पोर्शिया और सावित्री' का मणिकांचन संयोग अपने चरित्र में विकसित करने की धुन में भी व्यक्त होता है ! संभ्रांत वर्ग की महिलाएँ 'कन्या मनोरंजन' और 'गृहलक्ष्मी' नाम की जो पत्रिकाएँ निकालती थीं, उनमें पश्चिम और पूरब का मेल घटित करने की कोशिश करती थीं और भाषा में भी लोक और शास्त्र, देशज और तत्सम का यही मेल घटित करने का उपक्रम उन्होंने जारी रखा !

1900 के करीब संभ्रांत घर के परिवेश का एक सजग चित्रण कृष्णा नेहरू सिंह के संस्मरण में मिलता है :

"दो चौके, दो डायनिंग रूम – एक भारतीय, एक पश्चिमी ! सजावट की चीजें भी दोनों शैलियों की !"[12]

यह ठीक है कि 'गृहलक्ष्मी' की ज्यादातर पाठिकाएँ मध्यवर्ग की थीं, पर उनकी चेतना में भी दो अतियों के बीच की पुलिया बनने का सपना पल्लवित हो रहा था। चारों तरफ फैली नई दुनिया और पीछे छूट गयी पुरानी दुनिया से मन–लायक, सार्थक आदर्श वे चुन–फटक रही थीं ! चुन–फटक लेने की इस तमीज़ का भान स्त्री–जरनलों के सम्यक् खण्ड–विभाजन और हर तरह का विषय पढ़ने–पढ़ाने की लालसा में भी व्यक्त होता है ! इस बात की पुष्टि के लिए निम्नांकित उक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं : निम्नांकित पंक्तियों में माँ अपनी बेटी से बात कर रही है कि हर विषय का सम्यक् अध्ययन उसके सर्वतोमुखी विकास के लिए जरूरी है : "कुछ पुस्तकें तो ईश्वर–सम्बन्धी हैं जिनसे हमें ये ज्ञान होता है कि हमारा बनानेवाला कौन है; उसकी ओर हमारे क्या–क्या कर्त्तव्य हैं; हमें उसे सदा स्मरण रखना चाहिए। फिर भूगोल शिक्षा भी बड़ी आवश्यक है। तुम्हें याद होगा कि चमेली की कितनी हँसी उड़ी थी जब उसने कहा था कि लंका जाने के लिए रेल की यात्रा करनी पड़ेगी ... फिर हमको वनस्पति, पशुओं और खनिज पदार्थों का भी ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि इनमें से बहुत–सी वस्तुएँ हमारे उपयोग में नित्य ही होती हैं।"[13]

बाद में 'माधुरी' जैसे सामान्य जरनलों में भी 'महिला मनोरंजन' नाम से जो स्तंभ छपता था, उसमें विश्व–स्तर की स्त्री–सम्बन्धी जानकारियाँ ही दी जाती थीं : 'रूस की अन्तिम महिला शासक', 'लन्दन की महिला शिक्षाएँ', 'जापानी स्त्रियों के व्यवसाय', 'स्त्री पुलिस अधिकारी', 'विधानसभा में महिलाएँ' इनमें प्रकाशित कुछ लेखों के नाम हैं। पातिव्रत्य के अलावा 'एकपत्नीव्रत' की अवधारणा भी कुछ कहानियों और लेखों में विकसित हो रही थी ! जापान की कामगार महिलाओं और इंग्लैण्ड–अमरीका में प्रचलित विवाह–विच्छेद की घटनाओं पर भी विवाद होते रहते थे। पर स्त्री–अधिकारों की यह समानधर्मी चेतना 1920 के आस–पास ही जग पाई, उसके पहले नहीं! उसके पहले 'उद्धार' और 'सुधार' की ही बातें होती रहीं। और जैसा कि रोहिणी अग्रवाल वर्जीनिया वूल्फ की केन्द्रीय मान्यता के आलोक में सिद्ध करती हैं, सहायक पुरुष भी उद्धारकर्त्ता की मुद्रा में ही थे, ''भावना का लालप्रकाश' उनपर हावी था, सत्य का श्वेत प्रकाश नहीं''

"देवरानी–जेठानी की कहानी' (1870) के पहले छपी, क्योंकि 24 जून, 1870 को इसे स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में उपयोगी रचना मानकर लेफ्टिनेंट गवर्नर ने लेखक गौरीदत्त को सौ रुपये के पुरस्कार से नवाजा ! 1887 में छपा दूसरा महत्त्वपूर्ण हिंदी उपन्यास 'भाग्यवंती' जिसके लेखक श्रद्धाराम फिल्लौरी ग्यारह वर्ष की भाग्यवती के पिता पं. उमादत्त के रूप में "अपनी पत्नी से पुत्री की शिक्षा–दीक्षा में प्रगति की रिपोर्ट भी लेते रहते हैं और उसके पाठ्यक्रम का निर्धारण भी" करते रहते हैं ... लेकिन आदर्श भारतीय स्त्री की तरह वह अपने अस्तित्व और उपस्थिति – दोनों को अदृश्य कर लेना चाहती है। उसका होना उसके लिए नहीं, परिवार के लिए है – "मैं दीन? छीन, परम मलीन इस घर की दासी हूँ !"[14]

जैसा कि 'नीलदेवी' नाटक में भारतेन्दु स्वयं इंगित करते हैं, "अग्नि की तरह दिन–रात पुरुष की हड्डी जलाया" करने वाली, "सहस्र नेत्रधारी की तरह श्वसुर कुल में सिर्फ" दोष देखने वाली स्त्री विद्यावती भी हो तो उसका तिरस्कार ! पति और पति–परिवार जैसा भी हो – उसके प्रति समर्पित होकर ही सामाजिक सुधार–आंदोलन के समानान्तर घरेलू सुधार आंदोलन चलाए जाने हैं ! ... कुल मिलाकर दर्शन यह कि राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, महात्मा फुले आदि की तरह के विशेष पुरुष राजनीतिक–सामाजिक मोर्चों पर स्त्री की दशा सुधारें और उसके धन्यवाद–ज्ञापन के रूप में घरेलू मोर्चों पर स्त्रियाँ सामान्य पुरुषों के चित्त–परिष्कार में लगें ! हिसाब–किताब बराबर ! उनकी तो दशा सुधार की माँग करती है, पर पुरुषों की आदतें और मनोवृत्ति ही सुधारना जरूरी है जिनके चलते स्त्रियों की दशा इतनी बिगड़ी; काम–क्रोध–लोभ के अतिरेक से पीड़ित अतिपुरुषों को सम्यक् दृष्टि वाला, काम्य पुरुष बनाना है – 'सविनय अवज्ञा' के माध्यम से, यह बात स्वाधीनता आंदोलन के आसपास पनपे छायावादी साहित्य में अधिक उभरकर सामने आती है।

उस वक्त का स्त्री–साहित्य हिंदू–मुस्लिम विद्वेष, युद्ध का विरोध आदि बृहत्तर मुद्दों पर भी सजग हो जाता है। घर की सरहद इतनी बढ़ जाती है कि मुहल्ला, राष्ट्र और विश्व – सब उसमें समा जाते हैं और यह धारणा परवान चढ़ने लगती है कि पारिवारिकता का निर्धारक सिर्फ यौन और रक्त सम्बन्ध नहीं, आत्मीय बंधन भी हो सकते हैं। महादेवी वर्मा ने तो 'मेरा

परिवार' के दायरे में 'पथ के साथियों' और 'अतीत का चलचित्र' बने वंचित–विस्थापित जनों को ही नहीं, पशु–पक्षियों और चर–अचर – सारे जगत् को ही डाल लिया, और सिर्फ भाव के स्तर पर नहीं, यथार्थ के धरातल पर भी वे आजीवन उनकी सहचरी रहीं।

सुभद्राकुमारी चौहान, शिवरानी प्रेमचंद, सुमित्रा सिन्हा आदि का परिवार साहित्यिक था, इसलिए अपनी दुनिया बड़ी करने में उनको किंचित सहयोग मिला, किंतु चंद्रकिरण सोनरिक्सा के 'पिंजरे की मैना' के साक्ष्य से इतना कहा जा सकता है कि सामान्य मध्यवर्ग शिक्षित स्त्रियों को लेकर सशंक अधिक रहता था। ध्यान से उनकी प्रतिक्रियाएँ विश्लेषित करने पर समझ में यह आता है कि खौफ अधिकतर पुरुषों को इस बात का था कि आत्मिक स्वाधीनता स्त्रियों को प्रतिशोधपीड़ित तो नहीं कर देगी, इतने दिनों से हमने इन्हें उपांग बनाकर रखा है, बौद्धिकता का विकास उन्हें 'जैसा को तैसा' का पाठ पढ़ाने को विवश तो नहीं करेगा ! बहुतों के मन में यह भी संशय था कि मस्तिष्क का विकास हृदय संकुचित करता है और गर्भ का आकार भी – स्त्री की कोमलता बाधित होती है, उसका गुड़िया–तत्त्व नष्ट होता है।

समय ने अच्छी तरह उनके प्रश्नों का जवाब दे दिया है ! पहले की स्त्रियाँ तन–मन से सेवा करती थीं पर सिर्फ अपनी ससुराल की, नई स्त्री तन–मन–धन से सेवा करती है और ससुराल, मायका, घर–बाहर, परिजन–पुरजन–प्रकृति–परिवेश और बृहत्तर विश्व की भी ! वह दस हाथों से खटती है और दुनिया में श्रम की गरिमा स्थापित करने को उसी तरह प्रस्तुत है जिस तरह स्वाधीनता आंदोलन के वर्षों का यूटोपिया उसे प्रेरित करना चाहता था ! घर की सरहद बढ़ाने का पहला पाठ उसी ने पढ़ाया, यह तय है ! साक्ष्य के रूप में हम तत्कालीन गद्य का यह कोलाज सामने रख सकते हैं, बाद में कविता पर आएँगे –

(दंगे का प्रसंग – बारात आने वाली है। स्त्री एजेंसी कर्त्ताभाव/ उद्‌बोधनकत्री का भाव धारण करती है, 'कांतासम्मत उपदेश' का वृत्त बड़ा करती हुई छत पर चढ़कर भीड़ को सम्बोधित करती है।) –

''सहसा चंदा एक कटार लिए हुए उस कोठरी में से निकली और माता

से बोली – 'अम्मा मैं कोठे पर जाकर छज्जे से इन लोगों को शांत करने की चेष्टा करती हूँ ! या तो उन्हें यहाँ से हटा ही दूँगी या वहीं अपने प्राणों का अंत कर दूँगी ! अगर यह सिलसिला यों ही चलता रहा, तो एक भी मुसलमान या हिन्दू स्त्री की आबरू न बचेगी, इससे तो यह कहीं अच्छा है कि हिन्दू और मुसलमान मरदों का अंत हो जाए ! औरतें उनके राम को रो लेंगी।"[15]

(पति की आज्ञा काटकर भी देशसेवा के लिए घर की देहली लाँधने का संकल्प, पति की दीनता की धज्जियाँ, कांतासम्मत उपदेश का सार्थक उदाहरण) –

बनारस के सुपरिटेंडेंट बाबू ब्रजरत्न ने कहा – "बागी ? क्या अपने देश पर आँसू बहाना बगावत समझा जाता है ? अपने देश की बनी वस्तुओं का प्रयोग करना, लोगों को ऐसा उपदेश देना बगावत है ? खेद है ..."

"लेकिन मुझे तो कर्त्तव्य पालन करना ही होगा, प्रिये, जो रोटियाँ देता है, उसके हुक्म की तामील ..."

"रोटियाँ ? किसकी रोटियाँ खाती हैं हम ? अपने ही देशवासियों की न? क्या यह धन विदेश से आता है ? देश की रोटियाँ खाकर देश पर ही बिजली गिराना बड़ी बहादुरी का काम है ? ... आप तो ओहदे और नाम पर दीवाने हो रहे हैं ! यहाँ तक कि स्वदेशी चीजें खरीदने में भी विवशता का राग अलापने लगते हैं। न मुझसी हठीली हो, न वह छूटे !"[16]

* * *

(युद्ध को चुनौती, उसके मनोवैज्ञानिक कारणों का भेदन, उसके निवारण की दुरूहता का आभास)

"आज इस भौतिकवाद के वातावरण में मनुष्य बर्बर युग के क्रूर पुरुष से अधिक भयावह हो उठा है ! बाहर संघर्ष है, कर्मक्षेत्र इतना रूक्ष है कि पुरुष स्त्री और गृह को जीवन की आवश्यकताओं में एक समझता है, परंतु उसे

यह सह्य नहीं कि स्त्री उसकी अधिकार–लिप्सा में बाधक बने। उसकी इच्छा की सीमा नहीं, इसी से युद्ध–संख्या की भी सीमा नहीं तथा अन्याय और अत्याचार की भी सीमा नहीं। यदि स्त्री पग–पग पर अपने आँसुओं से उसका मार्ग गीला करती चले, तो यह पुरुषों के साहस का उपहास होगा, यदि वह पल–पल में उसे कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य सुझाया करे तो यह उसकी बुद्धि को चुनौती होगी और यदि वह उसका साहचर्य छोड़ दे तो यह उसके जीवन की रूक्षता के लिए दुर्वह होगा।"[17]

* * *

(पुरुषों के तृष्णा–भ्रमित चित्त के क्रमिक परिष्कार की आशा तद्कालीन स्त्री–साहित्य ने नहीं छोड़ी थी ! सद्गुणों पर स्त्रियों का एकाधिकार नहीं, सद्गुण सिर्फ स्त्री–धन नहीं, सुधीर जैसे कुछ पुरुष बेचारों में भी सद्गुण बीज–रूप में विद्यमान रहते हैं, पर उसे रह–रहकर सींचने की जरूरत होती है – इस गाँधीवादी आशा का विस्तार इस जगह देखा जा सकता है) –

"मानव हृदय को स्वच्छ बनाने योग्य सभी गुण सुधीर में मौजूद हैं ! उसके स्वभाव में कोमलता है, सहनशीलता है, सहानुभूति है और संतोष उसकी सबसे बड़ी विभूति है ! वह प्रत्येक दशा में मगन रहता है ! वह सदाचारी है, संचयी और त्यागी है ! परोपकार उसके जीवन का उद्देश्य है – यथाशक्ति दूसरों को प्रसन्न करना, सेवा करना, यही उसका ध्येय है ... सुधीर की जीविका का साधन पुस्तकों की एक छोटी–सी दुकान है, किंतु उसकी मनोवृत्ति दुकानदारी की ओर नहीं है। उसकी दिनचर्या तो दिन–भर दुकान पर बैठे–बैठे पुस्तकें पढ़ना और कविता लिखना है।"[18]

ऐसे सुभग छायावादी नायक के मन में भी ईर्ष्या का भाव जगता है जब उसी की दुकान के सामने 'केशव बुक डिपो' खुल जाता है और उसके विनाश के लिए वह "कुसुम को सोती छोड़" मंत्र सिद्ध करने चला जाता है ... बाद में 'केशव डिपो' में सहसा आग लगने पर वह पश्चाताप की आग में भी जलता है – आगे 15 जनवरी, 1934 को बिहार में आया भीषण भूकम्प चित्रित है जिसका सामना करते हुए गरीब–अमीर – सबका मनोमालिन्य धुल जाता है, पोएटिस जस्टिस के तहत सुधीर की दुकान भी ढह जाती है, और दोनों आसपास बैठे आत्ममंथन करते रहते हैं।"

* * *

(मुखर नायिका का प्रादुर्भाव), अपराधों के लिए जेल काट आए निठल्ले स्वजातीय से विवाह तय होने पर उसकी यह प्रतिक्रिया ध्यान देने लायक है–

"परन्तु दिन के काम से थकी हुई बिन्दो ने जब घर आकर यह सुना तो वह जलते तेल का बैंगन बन गई। चौधरी के घर तक सुने–जाने योग्य स्वर में उसने अपनी माँ को आड़े हाथों लिया – "मरने को पड़ी हैं और बिरादरी में रहने का शौक चर्रा रहा है ! तू भी साथ न रहना चाहे तो लछमन की रोटियाँ तोड़ और बहू की गालियाँ खा ! मैं नहीं करती कोई ठिकाना–विकाना!"[19]

* * *

महादेवी और उनका संसार–शिशु

महादेवी की कविता पर आत्मनिष्ठ होने का आरोप है। यह आरोप वे ही लगाते हैं जो यह आधारभूत सत्य नहीं समझते कि स्त्री का 'मैं' एक सर्वसमावेशी 'आत्मन' है जिसमें आसपास की दुनिया लगातार परावर्तित होती रही है।

औरत का पर्यावरण से नाता हमेशा से गहरा रहा है। जंगल–पहाड़–झरने, पशु और पक्षी आदिविस्थापित स्त्री के मन की बात समझने और पूरी कायनात में प्रसारित करने वाले सखा रहे हैं। लोरियों और लोकगीतों की तो बात जाने भी दें, सिर्फ कविता का ग्राफ देखें तो यह बात अयां हो जाएगी कि न सिर्फ पर्यावरण–संकट बल्कि युद्ध, दंगे और विस्थापन, किसी भी तरह की वर्ग–लिंग या वर्ण–संबलित हिंसा और भेदभाव की नीति एक स्वस्थ मन में जिस तरह की उजबुजाहट पैदा करती है, उसे पूरी मार्मिकता में स्त्री–कविता दर्ज करती है।

स्त्री–कविता में बिम्ब विवरणों का स्थानापन्न करते हैं, बिम्ब जिनकी तकनीक झप्पी–तकनीक होती हैं। औरतें जैसे एक–दूसरे को देखते ही उमगकर झप्पी ले लेती है, स्त्री–कविता में हर्ष और विषाद, धरती और

आसमान, जीवन और मृत्यु, इहलोक–परलोक, चौका और चौराहा, माइक्रो और मैको, कॉस्मिक और कॉमनप्लेस, अतीत और भविष्य, सपने और स्मृतियाँ, निजी और जातीय स्मृतियाँ, पर्सनल और पॉलिटिकल, निजी और समवेत आदि सारे ध्रुवान्त झप्प से गले–गले मिल लेते हैं। इतनी तेजी से यह झप्पी घटित होती है कि कई बार समझने वाले समझ नहीं पाते कि क्षणांश में ये क्या हुआ ! बिजली–सी कौंधी और कहां से कहाँ आ गये हम ! एक विटी कौंध में भावजगत् को ठोस वस्तुजगत् से गूँथकर मुस्करा देने की तकनीक स्त्री–कविता की प्रिय तकनीक है। महादेवी के यहाँ भी रह–रहकर यह तकनीक उजागर होती है।

पहले प्रेम को ही लेते हैं ! महादेवी ने लिखा है – 'विरह का जलजात जीवन'। महादेवी की कविता में विरह जीवन के विकास की शर्त्त है ! विरह –पंक में ही जीवन–कमल खिल पाता है ! ''मंगलमय विभु अमंगल में भी कितने मंगल छुपाए रखता है, तुम नहीं जानते, अलक्षेन्द्र'', प्रसाद के दाण्ड्यायन कहते हैं ! 'Sweet are the uses of adversity' शेक्सपियर का कहना है और महादेवी कहती हैं कि इस जीवन में कमल–तत्त्व का विकास ही न हो पाता यदि संयोग की अवस्था बनी रहती ! एक नटखट अर्थ इसका यह भी निकाला जा सकता है कि जब तक पुरुष आस–पास बने रहते हैं, स्त्रियों को किसी प्रकार के विकास का अवसर नहीं मिलता, वे लगातार उनकी खिदमत में ही जुटी रहती हैं, खिदमत से कुछ छुट्टी पाएँ तो पढ़ें–लिखें, कुछ मन का विकास करें ! बात मजाक में टाली जा सकती है लेकिन यह एक ऐतिहासिक तथ्य भी है। गृहस्थी के चकरचाल में फँसी किसी स्त्री का वैसा प्रफुल्ल विकास न हुआ जैसा अकेली स्त्रियों का ! मैडम क्यूरी, वर्जीनिया वूल्फ, रमाबाई राणा डे और सुभद्राकुमार चौहान आदि कुछ विलक्षण अपवाद हैं, वरना अमृता भारती, ऐनी बेसेंट, जेन ऑस्टिन, एमिली डिकिन्सन आदि ने विवाह की सोची ही नहीं, खुद महादेवी वर्मा ने विरह का वरण किया –

'वेदना में जन्म, करुणा में मिला आवास !' 'आवास' जैसे ठोस पार्थिव शब्द से 'करुणा' का मेल कोई बेमेल विवाह नहीं है ! परी कथाओं में हम चॉकलेट के घर के बारे में पढ़ते हैं, यहाँ करुणा ही ईंट–गारा है। वही है दरोदीवार, वही छत ! जन्मों से विस्थापित स्त्री, दर–दर भटकती हुई अंततः शरण कहाँ पाती है – करुणा में। बुद्ध की 'आम्रपाली' की तरह करुणा में ही

स्थित होती है आत्मा। नए जन्म का कारक होती है वेदना ! वेदना ही माँ है। सुखी व्यक्ति अगरधत्त और आत्मकेंद्रित होता है ! चित्त का विकास होता है वेदना में ही ! येट्स ने इसे और मजेदार ढंग से कहा ''हे मॉड गॉन, यदि तुम मिल ही जाती तो मैं कविता लिखने में समय क्यों गँवाता, तुमसे लिपटकर पड़ा रहता। इश्क निकम्मा कर देता मुझको, 'I would have thrown poor words away.'''

अगली पंक्ति भी पार्थिव–अपार्थिव के बीच एक मजेदार झप्पी घटित करती है ! विरुद्धों के बीच का यह अप्रत्याशित विटी जक्स्टापोजिशन जॉन डन, जॉर्ज हर्बर्ट और एमिली डिकिन्सन के मेटाफिजिकल विट का ही जरा महीन और शर्मीला–सा स्वरूप है जहाँ गम्भीर बात खुलकर एक प्रकट ठट्ठे के साथ तो नहीं कही जाती पर महीन मुस्कान के साथ निवेदित कर दी जाती है। यहाँ शुद्धतावादी, क्लासिकल औचित्यवाद की अवज्ञा तो है और भरपूर है किंतु उद्धत अवज्ञा न होकर यह सविनय अवज्ञा है –

'अश्रु चुनता दिवस इसका, अश्रु गिनती रात।
आँसुओं का शेष उर, दृग अश्रु की टकसाल।'

'टकसाल' जैसे घोर पार्थिव बिम्ब का तबादला आँखों में करना एक विकट निर्णय रहा होगा ऐसी शालीन स्त्री के लिए जो दीपक, बादल आदि परम्परा–पोषित, प्रतीक–कीलित आर्किटाइपल बिम्बों में नए–नए अर्थ–संकेत भरती रही हो ! करेंट डिपोजिट यानी शेषकोष 'उर' यानी हृदय है, पर भरपूर (सरकारी/अँगरेजी) खजाना हैं आँखें ! ये शायद एजेंट हैं टकसाल की ! दिन में आँसू वसूलती (चुनती) हैं और रात में गिनती हैं – कभी आँसू, कभी तारे ! रात–भर तारे गिने यानी नींद न आई – यह प्रयोग तो चलता है, किंतु आँसू गिनकर रात बिताने की जो बात महादेवी करती हैं, उसमें बचा–बचाकर रखने और संजोने का अनूठा बिम्ब उभर कर आता है :

'न बचा–बचाके तू रख इसे
कि ये आईना है वो आईना
कि शिकस्ता हो तो अजीज़तर
है निगाहे आईनासाज़ में' – तो क्या इकबाल की ये पंक्तियाँ महादेवी का प्रतिपक्ष रचती हैं? इकबाल अहंकार का शीशा तोड़ने की बात कहते हैं, महादेवी के यहाँ आत्माभिमान बचाने की बात सामने आती है।

अब वात्सल्य पक्ष पर आते हैं जिसका स्पष्ट प्रतिबिम्बन महादेवी की इस महान कविता में है :

'इन स्निग्ध लटों से छा दे तन
पुलकित अंकों में भर विशाल,
झुक सस्मित शीतल चुम्बन से
अंकित कर इसका मृदुल भाल !
दुलरा दे ना बहला दे ना
यह तेरा शिशु–जग है उदास !'*

पूरा जगत् ही नई स्त्री का उदास शिशु है जिसे वह दुलार से बहला देना चाहती है – बिना दरोदीवार के उस नए घर में जिसकी नींव महादेवी ने अपने जीवनकाल में ही डाली थी – पशु पक्षियों, वंचितों और अनाथों का एक बड़ा संयुक्त परिवार गठित करके जिसका नियामक न यौन–सम्बन्ध थे, न रक्त–सम्बन्ध ! बस आत्मा के रिश्ते ही इस नई तरह के घर में चलते थे। जिसे बाद के वर्षों में हम बंधु–परिवार कह कर सम्बोधित करने लगे, उसकी नींव महादेवी ने ही तो डाली थी, अपने उस अलग तरह के वात्सल्य के सहारे जिसकी आहट दर्शन वाक् (ऋ. 10/25) की इस ऋचा में भी है :

"जन्म–मृत्यु के घात–प्रतिघात से, रोग–शोक–अनुताप की मर्मभेदी पीड़ा से, चंचलता के घोर आवर्तन से गलित–दलित छिन्नमर्म होकर ये जीव ऊष्ण और दीर्घ निःश्वास का परित्याग कर रहे हैं, परंतु मैंने तुम्हारे लिए अपना विशाल वक्षस्थल अनावृत्त कर दिया है और अनन्त भुजाओं का प्रसारण कर तुम्हारे पीछे दौड़ रही हूँ ! तुम मेरी संतति हो, मैंने तुम्हें कभी भी अपनी गोदी से दूर नहीं किया : यहाँ दुःख और सन्ताप कहाँ? किसे देखकर तुम्हें भीति और आशंका है, सत्य मेरा ही स्तन्य है, सत्य उदभाषित है ज्योति से, दिग्मंडल भी उद्भाषित है, मधुमय व्योम मातृमुख से मुखरित है और अंतरिक्ष प्रणवनाद से परिपूरित, मातृगोद में अमृतमय संजीवनी धारा का अवगाहन करो और अनुभूति के साथ जीवन का आनन्द उपलब्ध करो।" ध्यान दें कि यहाँ दूध का आशय नेह–तत्त्व है – 'मिल्क ऑफ हयूमनकाइंडनेस' जो उन स्त्रियों के पास भी होता है जो किसी कारण मां नहीं बनीं। अंत में 'घर' के मोटिफ पर आते हैं :

'वेदना में जन्म/करुणा में मिला आवास'। आवासन की समस्या चिरविस्थापित स्त्री के जेहन में लगातार उमड़ती रही है –

'विस्तृत नभ का कोई कोना
मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना, इतिहास यही,
उमड़ी कल थी, मिट आज चली।'

'विस्तृत नभ का कोई कोना/मेरा न कभी अपना होना' – बेजगह होने का यह एहसास वर्जीनिया वूल्फ के 'अ रूम ऑफ वन्स' की ओर से होता–हवाता कहाँ से कहाँ पहुँच गया। लामकां होने का यह आलम एक लीला–भाव रचता है जिसमें मेटाफिजिकल विट् की आभा है। हँसकर तकलीफ बयां करने का यह सौष्ठव भ्रमरगीत की गोपियों की बतकही से मिलता–जुलता है। इसी बिन्दु पर हम स्वाधीनता संग्राम के लोकपक्ष पर आते हैं !

बिहार में चाचियाँ–दादियाँ आज तक घुघुआमन्ना झुलाती हुई एक मजेदार गीत गाती हैं :

'सात सखी मिल कुटली–पिसली,
गठरी–पोटरी कइली–धइली,
हाय गे मैया ई का भेलइ,
लाल बनरवा घोड़ी चढ़लइ।
धम्म–धमाधम देली ओकरो,
कुटली–पिसली–छिटली सगरो !'

(हम सात सखियाँ खेत में काम कर रही थीं, लाल मुँह वाले घुड़सवार आए तो मिल–जुलकर मूसल से थूर दिया उनका मुँह, चक्की में पीसा उन्हें, चूरा बनाकर उन्हें चिड़ियों की खातिर ही छींट दिया) ! एक दिन किसी ने पूछा, 'मगर ऐसा क्या करते थे लाल मुँहवाले सवार कि उन्हें इतनी विकट सजा दी जाती थी ?' इस पर एक नानी लजा गई; और इतना ही बोलीं –

'गोरा बन्दर अण्डा खाके आता था,
बात–बात में अपना मुँह महकाता था।'

हिंदी प्रदेश ढेलाबाई और अकली देवी दुसाधन की भूमि रहा था ! अकली देवी जब 15 सितम्बर, 42 को गोरों की गोली की शिकार हुई – उनके दोनों हाथों पर आजादी के झंडे का गोदना गुदा था। ढेलाबाई का कोठा क्रान्तिकारियों की शरणस्थली था जहाँ भिखारी ठाकुर और महेन्दर मिसिर – जैसे जनकवियों का भी आना–जाना था ! उनके लिखे गीत कोठों से लेकर शिवालयों और खेत–खलिहान तक गूँजा करते थे; साथ में स्त्रियों के रचे गीत भी जिनमें भारत–माता के साथ उनकी अपनी अस्मिता का भी ऊर्ध्वबाहु उद्घोष होता था –

'कचहरी में बोले सियार,
सुराज रुत ऐबे करी।'

ऐसी कितनी ढेलाबाइयाँ और अकली दुसाधनें देश के कोने–कोने में फैली थीं –

'लिखि–लिखि भेजी पाती सबनी,
ऐसन होरी अबकी देखनी,
बाबू कुँवरसिंह, तोहर राज बिनु
अब न रँगइबो केसरिया,
पिचकारी में गोला–बारूद
अर्थी सेज – सजरिया !'

एक और गीत है जहाँ नेहरू जनता के संग चल रहे हैं मोटरगाड़ी पर, राजेन्द्र बाबू घोड़े पर हैं और गाँधी बाबा पैदल ही सबके आगे–आगे। आजादी के पहले दौर में तो, खैर, रजवाड़ों की स्त्रियाँ आगे आईं, अपना राज–पाट बचाने का भाव भी उनमें था, पर जैसे–जैसे स्वाधीनता–संग्राम आगे बढ़ा – घर–गृहस्थी, नून–तेल–लकड़ी में फँसी साधारण स्त्रियाँ भी उनसे जुड़ती गईं और बिल्कुल निःस्वार्थ भाव से !

यह ठीक है कि ऑयरलैंड की मार्गरेट कजिन्स ने स्त्रियों के मताधिकार और दूसरे राजनीतिक अधिकारों की पहल भारतीय नेताओं से की थी, एनी बेसेण्ट का भी इसमें बड़ा योगदान था किंतु अपनी नैसर्गिक प्रज्ञा से गाँधी भी जानते थे कि स्त्रियों की उद्‌धुर शक्ति से जुड़े बिना आन्दोलन की सफलता संदिग्ध है।

गाँधी ने महिलाओं को सुराज–मिशन से जब जोड़ा, सुराज के गीत गाते और चरखा चलाते हुए आधुनिक स्त्री कविता के अंकुर कब फूट गये होंगे – कोई नहीं जानता। खूब लड़ी मर्दानी और इन 'मर्दानियों' ने गीतों में भी लगातार संघर्ष की बात की ! बाद में इप्टा के गीत, रेडियो पर प्रसारित कवि–सम्मेलन और मुशायरे, – इन सबकी ध्यानमग्न श्रोता हुईं स्त्रियां। ये सब प्रसारण स्त्री–कविता का लोक विस्तृत कर गये। घरेलू चिट्ठियों, प्रेम–पत्रों और उस के तुरत–तुरत बाद परदेसी पिया को लिखे सुहाग–पत्रों की भाषा धीरे–धीरे बदलने लगी।

विद्या–विनोदिनी परीक्षा के फॉर्म भरते–भरते स्त्रियों के मन में कुछ तो जरूर कुनमुनाया, मसलन ये कि कैसा होगा रंगून जहाँ से पिया ने किया है टेलीफून ! सामान्य ज्ञान की प्यास बढ़ी।

पटना–मुजफ्फरपुर, जयपुर–जोधपुर, इलाहाबाद–बनारस और लखनऊ, जबलपुर–भोपाल आदि में नये विश्वविद्यालय और महिला–कॉलेज खुले ! बंगाली भद्रलोक, आर्यसमाज, गाँधीवादी आग्रहों या कम्युनिस्ट प्रगतिशीलता का हल्का–सा भी प्रभाव जिन परिवारों पर था, अपनी–अपनी बेटियों–बहनों को महिला कॉलेज भेजने के लिए राजी हुए ही ! वहाँ उन्हें इण्टरमीडिएट तक के पाठ्यक्रम में कम–से–कम मीराबाई, क्रिस्टीनी रॉजेटी और एमिली डिकिन्सन तो पढ़ाई गईं ही। एक बार चस्का लगा तो भारतीय कविता और विश्व–कविता की भी खिड़कियाँ लगीं खुलने।

गौर किया जाने लगा कि पुरुष–कविता में तो असली औरत एक सिरे से गायब है ! खेत–खलिहान, गली–मुहल्ले, आँगन–चौबारे, मिल–फुटपाथ, चौका–चूल्हा, जचगी–फचगी में फँसी हाड़–माँस की सच्ची औरत का मनोछन्द या उसका भाषिक अवगुण्ठन समझने की कोशिश कोई कर ही नहीं रहा !

यह वह क्षण था शायद जब स्त्रियों ने अपनी कलम खुद ही थामी और इस वृहद्पाठ में पीड़ा और विडम्बना–बोध, फैंटेसी और यथार्थ, ट्रैजिक और कॉमिक, आतंक और हँसी, व्यक्ति और समष्टि, गुस्सा और सेलिब्रेशन, सिंबालिक और सिमियॉटिक का सजग अन्तःपाठीय संवाद संभव हुआ।

शिक्षा–दीक्षा से इतनी जागृति तो आ गई कि मन में प्रश्न लगे जगने, अंतरंग सम्बन्ध भी प्रश्नकीलित होने लगे, अस्तित्ववादी चुनाव का प्रश्न रंग दिखाने लगा, पर फिर भी अंतरंग सम्बन्धों पर मरदानी भाव से कलम उठा लेना सम्भव न हुआ क्योंकि प्रश्न उन्ही के खिलाफ जगे थे जिनकी खातिर मन में ममता थी, जिन्हें हमने पैदा किया था, जिनसे पैदा हुए थे, जिनके कंधे से दुनिया देखी थी, जिनसे प्रेम किया था। पीढ़ियों के संघर्ष की तरह का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक संघर्ष था ये जो कि भाला–बर्छी से नहीं, भाषाई औजारों से लड़ा जाता है। यही स्त्रीत्ववादी कविता का उत्स था।

इस संघर्ष की प्रकृति दो वर्गों, दो जातियों/नस्लों/संस्कृतियों के बीच मंचित संघर्ष से बिल्कुल अलग थी, दो पीढ़ियों के बीच की तनातनी – जैसी कशमकश थी यहाँ क्योंकि मुद्दा सत्ता का प्रतिशोधमूलक हस्तांतरण नहीं, उसका शान्तिपूर्ण समायोजन और साधनों, अधिकारों का प्रजातांत्रिक वितरण था। एक तरह का 'स्वाभिमान और सम्मान मिशन' था यह। सम्मानपूर्ण आपसदारी इसके मूल में थी – कम–से–कम हिंदी–पट्टी में, जहाँ गाँधी का प्रज्ञा–पक्ष और बुद्ध की उन्नत सम्यक् दृष्टि एक बड़ा आदर्श हमेशा रही, अतियों से बचने का पाठ कम–से–कम स्त्रियों को तो घुट्टी में लगातार पिलाया गया, लगातार ही उन्हें सिखाया गया कि न्याय से बड़ी है क्षमा और एक दमनचक्र का जवाब दूसरा दमन–चक्र कहीं से नहीं है, किंतु साम–दाम नहीं चले तो दंड–भेद जरूर आजमाओ। स्वतंत्रता आंदोलन के समय की लेखिकाओं में लगातार यह शर्मीलापन या मर्यादा का संकोच रहा कि खुद अपनी बात कहनी है तो कितनी कहें और कैसे ? किसी कथा, किसी मिथकीय या ऐतिहासिक चरित्र की ओट से बात करने में ज्यादा सहूलियत होती है, एक बात तो यह, दूसरी शायद यह भी कि गाँधी–युग की डिग्निफायड सफरिंग वाला आदर्श सामने रखना था। बोलना है लेकिन ज्यादा नहीं बोलना ! लगातार एक संकोच इस बात का कायम है कि कहें तो कितना कहें। बढ़ें तो कितना बढ़ें ... घूंघट नहीं काढ़ना है पर माथे पर

आँचल तो रखना है – महादेवी वर्मा की एक–एक तस्वीर – चाहे वे उनके छायाचित्र हों या कविता में प्रकट बिम्ब, उस विकट द्वन्द्व का साक्ष्य वहन करते हैं जिसका प्रकाशन 'घोरेबाइरे' में विमला के माध्यम से रवि बाबू करते हैं और जिसकी व्याख्या पार्थ चैटर्जी ने भी काफी महीनी से अपने आलेखों में की है।

पार्थ चैटर्जी और नवजागरण काल के दूसरे अध्येताओं का निष्कर्ष एक पंक्ति में जो निकलता है, वह यह कि नवजागरण से गाँधी–युग तक, पढ़े–लिखे भद्रलोक के मन में भी, आदर्श स्त्री की छवि यही बनती थी कि वह पोर्शिया और सावित्री का मणिकांचन संयोग हो ! इतनी पढ़ी–लिखी हो कि ड्राइंगरूम की चर्चाओं में भाग ले सके, लेकिन निजी दुःखों का पिटारा लेकर बैठे नहीं और रहे किसी–न–किसी पुरुष या फिर परमपुरुष की छाया में ही!

'पुरुष की छाया' वाली रूढ़ि जीवन में तो महादेवी ने तोड़ी, पर परमपुरुष वाली छतरी इनको आरामदेह लगती होगी तो इसमें बुरा भी क्या है ! हाँ, निजी दुःखों के मामले में वे लगातार चुप ही रहीं। यह भी उनका वैयक्तिक निर्णय है जिस पर किसी को कुछ कहने का हक नहीं बनता ! हम तो बस निष्कर्ष ही निकाल सकते हैं कि महादेवी वर्मा की भाषा गाँधी की छाया में यानी डिग्निफाइड सफरिंग, सविनय अवज्ञा के आदर्शों की छाया में पली हुई स्त्री की मर्यादित और प्रतीक–कीलित भाषा है। महादेवी छायावादी कविता की एकलौती बेटी थी – सात भाइयों वाली चम्पा की तरह अकेली, गम्भीर और मातृमना; कुछ–कुछ वैसी ही जैसी हमारी दादी की पीढ़ी की ज्यादातर स्त्रियाँ होती थीं – किस्से–कहानियों–गीतों–मुकरियों का सागर, ज्ञान–विवेक की पूरी पिटारी, पर जब जीवन के निजी प्रसंगों की बारी आती, छत्तीस तोले के करधन की तरह निजी प्रसंग तकिए की रूई के भीतर कहीं गायब हो जाते थे। 'कुशल', 'सकुशल' – उन दिनों की चिट्ठी–पत्री शुरू ही होती थी डेटॉल से नहाए हुए कुशल–क्षेम से। घर में चाहे जितनी लानत–मलामत हुई हो, चिट्ठी लिखी जाती थी तो यही कि यहाँ का समाचार अच्छा है। कोई बात तो होगी कि उन दिनों की एक हिट फिल्म थी – 'मैं चुप रहूँगी !' 'बन्दिनी' फिल्म का वह दृश्य याद कीजिए जब जेल के प्रांगण में हर तरफ उथल–पुथल–सी मची है पर सन्तरी रह–रहकर गुहार लगाता है – 'सब .

.. ठीक ... है !'

ध्रुपद गायक जैसे टेक की पंक्ति पर बार–बार लौटते हैं, महादेवी की कविता में कुछ झिलमिल प्रतीक हैं जिन तक वे बार–बार लौटती हैं। पुरुषों ने जो आजादी के गीत लिखे – खुले–खुले से थे। फैज का ही उदाहरण लें –

'बोल कि लब आजाद हैं तेरे
बोल जुबां अब तेरी है
तेरा सुतवां जिस्म है तेरा
बोल कि जां अब तेरी है।
बोल ये थोड़ा वक्त बहुत है,
जिस्मो–जुबां की मौत के पहले
बोल कि सच ज़िन्दा है अब तक
बोल, जो कुछ कहना है, कह ले।*

इस तरह का खुला–खिलापन सुभद्राजी के गीतों में था तो वे भी लोकप्रिय ज्यादा हुईं, पर महादेवी की परम्परा में प्रतीक–कीलित जो कुछ भी लिखा गया, उसका अर्थ अभी और खोलना बाकी है। तो क्या हमारे लिए यह सम्भव है कि हम महादेवी की विरह–व्यथा को एक पुटलिया समझें – लाठी पर टँगी हुई ठकुरी बाबा की गठरी जिसमें दुनिया के सारे ठोस और वायवीय दुख बँधे हुए हैं, सारे वैचारिक और सामाजिक सन्ताप, थोड़ी–सी आपबीती, थोड़ी–सी जगबीती और वह पूरा संसार, पशु–पक्षियों और ठकुरी, बाबा, मालिन, राधा आदि का पूरा सब–ऑल्टर्न संसार जिनके दुःखों का स्पष्ट संदर्भन वे अपने गद्य में करती हैं, उतनी ही जिन्दादिल भाषा में ! क्या यह सम्भव है कि महादेवी के प्रिय की व्याख्या हम परमपुरुष या किसी एक व्यक्ति के रूप में नहीं – उस आदर्श के रूप में करें जो अभी तक इस समाज के लिए गूलर का फूल हैं ?

बंगाल और महाराष्ट्र में भद्रलोक की महिलाएँ पार्वती और पोर्शिया का मेल अपने व्यक्तित्व में घटित कर रही थीं और जैसा कि टैगोर के 'घोरेबाइरे' से स्पष्ट है, ड्रॉइंगरूम की चर्चा–वार्ता तक ही उसको सीमित रखने का मन मर्दों का था। आनन्दी बाई जोशी के पति अपनी पच्चीस साल छोटी पत्नी को

उसकी मर्जी के खिलाफ (गर्भपात के तुरन्त बाद) डॉट–डपट कर मेडिसीन पढ़ने अमरीका भेजते भी हैं तो इस भाव से कि लोग उन्हें प्रगतिशील होने का तमगा दें ... वहाँ पहुँचकर वह गुजराती ढंग से साड़ी पहनकर एक तस्वीर खिंचवाती हैं तो एक चिट्ठी में उनकी वे धुरछक मरम्मत करते हैं, रूक्मा बाई वाले किस्से पर अपना मत नहीं भेजना चाहतीं तो धमकाते हैं, गालियाँ देते हैं।

अन्दर के जाले साफ होते–होते ही साफ होते हैं, यह तो गाँधी का पति–रूप भी बताता है। शुरू में वे भी जिद्दी, अड़ियल और सख्त पति थे, पर कस्तूरबा और शिष्याओं का साथ धीरे–धीरे उनका नैतिक कद बढ़ाता गया, इसे स्वीकार करने की ईमानदारी भी उनमें थी। तभी तो अपनी एक प्रसिद्ध उक्ति में वे कहते हैं कि ताकत का अर्थ यदि पशुबल है, तब तो स्त्रियाँ पुरुषों से उन्नीस हैं, किन्तु उसका अर्थ मानसिक, बौद्धिक और नैतिक बल है तो वे पुरुषों से बीस ही होंगी, उन्नीस नहीं, और उन्हें आन्दोलन से जोड़े बिना कोई बात नहीं बनने वाली ! वीरों का वसन्त आएगा तो स्त्रियों के बुलाए ही आएगा और आएगा विरुद्धों के सामंजस्य से, जैसे – सुभद्रा कुमारी के इस प्रसिद्ध गीत में –

''वीरों का कैसा हो वसन्त ? आ रही हिमालय से पुकार,
है उदधि गरजता बार–बार, प्राची पश्चिम, छू नभ अपार,
सब पूछ रहे हैं दिग–दिगन्त, वीरों का कैसा हो वसन्त।
फूली सरसों ने दिया रंग, मधु लेकर आ पहुँचा अनंग,
वसु–वसुधा पुलकित अंग–अंग, है वीर–वेश में किन्तुकंत।
भर रही कोकिला इधर तान, मारू बाजे पर उधर गान,
है रंग और रण का विधान, मिलने आए हैं आदि–अंत।
गल बाहें हों या हो कृपाण, चल चितवन हो या धनुष बाण,
हो रस–विलास या दलित त्राण, अब यही समस्या है दुरंत।
कह दे अतीत सब मौन त्याग, लंके ! तुममें क्यों लगी आग ?
ऐ कुरूक्षेत्र, अब जाग–जाग, बतला अपने अनुभव अनंत,
हल्दी घाटी के शिलाखण्ड, हे दुर्ग, सिंहगढ़ के प्रचण्ड,
राजा राणा का कर घमंड, दो जगा आज स्मृतियाँ ज्वलंत।
भूषण अथवा कवि चंद नहीं, बिजली भर दे, वह छन्द नहीं,
है कलम बँधी, स्वच्छन्द नहीं, फिर हमें बतावे कौन हंत।
वीरों का कैसा हो वसन्त !''*

इस महान रचना में जातीय स्मृतियाँ चौसर का पाँसा बनती हैं। ध्वनि अर्थ का विस्तार करती हुई दिग–दिगन्त के पार होती है, किन्तु आज की स्त्री से इसका अन्तःपाठीय सम्वाद जो बनेगा, वह थोड़ा दूसरी तरह का होगा क्योंकि आज की स्त्री खुद वीर–भाव में देहली के पार खड़ी है और उसके द्वंद्व पुरुष–योद्धा के द्वन्द्व से भी सघनतर हैं क्योंकि वह 'माँ कह एक कहानी' वाली सीधी–सादी, घरेलू माँ भी है। बृहत्तर उद्देश्यों के हिमालय उसे भी पुकार रहे हैं और जो उदधि इस कविता में बार–बार गरज रहा है, उसकी गर्जना–तर्जना में घर के और बाहर के पितरसत्ताकों की गरज–तरज भी शामिल है। वीर–वेश में कंत हो तो कांताएँ आरती दिखाती हैं, किन्तु कांताएँ जब बृहत्तर उद्देश्य के लिए, बड़े मोर्चों के लिए घर की देहली लांघती हैं, कंत की तो भृकुटि तनती ही है, आसपास के लोग भी तंज कसने से बाज नहीं आते। 'रस–विलास या दलित–त्राण' – यह प्रश्न स्त्रियों के भी आगे है, अब और उनकी हौसला–आफजाई के लिए कौन है ! हल्दीघाटी, भूषण या कविचन्द – सब जगह तो पुरुषों का प्रभुत्व है। युद्ध 'जर–जोरू–जमीन' के लिए हुए हैं, पर लड़े गये हैं पितरसत्ता के हथियारों से। औरतों का हथियार भाषा है, भाषा जो, भ्रमरगीत की थी या भक्त–रचनाकारों की थी, या अन्य महिला रचनाकारों की, आग और पानी – दोनों जहाँ गलबहियाँ डाले चलते थे। नई स्त्री के पास आजादी के बृहत्तर आयामों की खातिर भाषा के ही औजार थे जिनका उपयोग लगातार यह कर रही है – अंतःपाठीय प्रयाणों में। अब जैसे आज की स्त्री सुभद्राजी की इस कविता से अंतःपाठीय सम्वाद करे तो पाठ का तेवर कुछ–कुछ ऐसा होगा शायद –

इन वीरबहूटिन का दिगन्त।
निर्बन्ध उड़े घनकेशपाश,
आँचल उड़ता जैसे अनन्त।
बाहर जाने की तैयारी,
भीतर कैसी मारा–मारी।
सपनों के आखर स्तम्भित,
स्मृतियाँ अवरोधी हलन्त।
पावस–पीड़ित घनघोर द्वन्द्व
है शिथिल–क्षरित सम्बन्ध–छन्द
पतझड़–पतझड़–सा है वसन्त।
इन वीर बहूटिन का दिगन्त।

जैसाकि फ्रेंच भाषाविदों के भाषिक विश्लेषणों से स्पष्ट है – पुरुष की लिबिडिनल इकोनॉमी' का बीज शब्द है 'सम्पत्ति' और स्त्री की 'लिबिडिनल इकोनॉमी' का बीज–शब्द है 'उपहार' यानी एक ऐसा अवदान जिसका दाम वसूलने की कोशिश कभी की न जाए। इसलिए उसमें ऐसा बहुत कुछ संचित रह जाता है जिसे उच्छल अभिव्यक्ति की आवश्यकता होती है। स्वभावतः स्त्रियों की भाषा में एक खास तरह का आवेग होता है और वैसा ही क्रमण–संकुचन जो प्रसव का साक्ष्य वहन करे, उसमें होता है 'वस्तुनिष्ठता' और 'आत्मनिष्ठता' का समायोजन, तर्क और अन्तःप्रज्ञामूलक उस अर्द्धविस्मृत भाषिक लय का संयोजन तो गर्भगृह में माँ की देह से छनकर शिशु की देह में उतर जाता है – आती–जाती साँस की लय, पूरी–की–पूरी नहीं भी तो काफी हद तक, अधूरे वाक्यखंडों, शब्दों के बीच की दरारों, अंतःपाठीय प्रभावों, रचनात्मक अन्यथाकरणों और व्याकरण के नियम लाँघ जाने में प्रतिबिम्ब होती है या सिनेस्थेसिया (Mixing of Sensations) और बहुध्वन्यात्मक (Polyphonic) बिम्बों में। उसकी गति क्षैतिज नहीं, वर्तुलाकार होती है, सम्बन्धवाचकों और समुच्चबोधकों का भी सुखद विनियोग वहाँ होता है। वाक्य–रचना के तट तोड़कर बही जाती निर्बाध नदी, बहुविधात्मकता (आत्मकथा, आलोचना, निबन्ध – सबका मिला–जुला रूप) – विस्मृतियों और मिश्र (Portmanteau) शब्दों के संकुलित तरंग की बड़ी उठान – सबमें ही औरत की देह और मानसिक बनावट का द्वन्द्व धक्–धक् बजता हुआ साफ सुनाई देता है। उसके रूपक, श्लेष, योगात्मक क्रीड़ाभाव – सब एक ऐसे अवचेतन का पता देते हैं जो सर्वसमावेशी है और उच्छल।

वर्जीनिया वूल्फ, मरीना स्वेताएवा, अन्ना अख्मतोवा, सिल्विया प्लाथ, ऐन सेक्सटन और अपने यहाँ की भी कुछ मातृमुखी कवयित्रियों की भाषा ऐसी ही भाषा है। आदर्शीकृत मिथक की दुनिया में रहने वाली ये कवयित्रियाँ आत्महत्या की हद तक नहीं भी गईं तो आध्यात्मिक/धार्मिक/मिस्टिकल अनुभूतियों की उस स्वयंसमर्थ दुनिया में प्रयाण कर गईं जो मीरा को मीरा और महादेवी वर्मा को वह बनाती हैं जो वे हैं। 'चेतन' से अधिक 'अवचेतन' का, यथार्थ से अधिक 'आदर्श' का दबाव इन पर लगातार बना रहता है और ये जीती भी हैं तो आदिम स्मृतियों और देवी/अधिभौतिक सपनों से आकंठ भरी हुई। मातृमूलक संवेदनाओं से घुलना इन्हें आत्म–विसर्जन की सीमाओं तक खींच लाता है, पर यह विसर्जन दुरूह किस्म का होता है! यह अस्मिता

की तलाश के प्रश्न से भी जटिल ढंग से आ जुड़ता है, बल्कि ठीक से देखा जाए तो होता ऐसा ही है कि अस्मिता की तलाश के क्रम में ही तादात्म्य और समर्पण घटित हो जाते हैं, एक ऐसे प्रकाश–बिन्दु से जो आदर्श जान पड़ता है। लम्बी तलाश के बाद मिलने वाला 'सिमिऑटिक' स्तर का यह समर्पण सिंबॉलिक व्यवस्था के कोमल–सहिष्णु–लजालु – 'कान्तासम्मत' समर्पण से बिलकुल भिन्न होता है क्योंकि इसमें एक (आदर्श) के स्वीकार में पूरी व्यवस्था का, पूरी अन्यायपूर्ण व्यवस्था का निषेध शामिल होता है। एक प्रेमी/भक्त और मिस्टिक की आत्मा इसी अर्थ में बागी होती है। जब मीरा कहती है – 'मेरे तो गिरिधर गोपाल/दूसरो ना कोय' तो एक के स्वीकार में पूरी व्यवस्था के निषेध का क्रान्तिकारी दर्शन घटित होता दिखाई देता है।

इसी तरह महादेवी वर्मा के भी कई गीत उनके रहस्यवादी स्वरूप का खंडन करते हुए उन्हें प्रखर, स्त्रीवादी विद्रोह का तेज देते हैं –

'कीर का, प्रिय, आज पिंजर खोल दो।'

पूरे गीत का आवेग गौरतलब है। इसी तरह वे कहती हैं –

'पंथ रहने दो अपरिचित,
प्राण रहने दो अकेला।
चिरव्रती निर्माण–उन्मद
ये अमरता नापते पद।
बाँध लेंगे अंक–स्मृति से तिमिर में स्वर्णबेला।'*

यहां और स्पष्ट हो जाता है कि अपने एकान्त को, अपने–आपको ही चीरकर दो भागों में बाँटने और अपने–आपसे ही संवाद कायम करने की यह महत्त्वपूर्ण पहल है। दाम्पत्य के क्लेशों को लेकर लम्बा–चौड़ा शिकायतनामा दर्ज करने के स्थान पर महादेवी इक्कट–दुक्कट में निष्णात बच्ची की तरह कड़वे यथार्थ के विषम वर्णन साफ फलाँग जाती हैं और कल्पित आदर्श के साथ–साथ खुद अपने से जो नया सम्बन्ध कायम कर लेती हैं – यह कम साहस का काम नहीं।

* * *

सुभद्राकुमारी चौहान ने 'वीर' और 'वात्सल्य' को महादेवी जी की 'करुणा' से अलग एक पहचान दी – यह उनका बड़ा अवदान है। रस–निक्षेप की दृष्टि से और शब्द–चयन के निकष पर भी स्त्री–कविता का परिवृत्त बड़ा करने का श्रेय उन्हें जाता है। काव्य–भाषा की जकड़न खोलने में, उसे बातचीत की भाषा के करीब लाने में उनकी कविताओं की बड़ी भूमिका है, पर बाद की अन्य कवयित्रियों का तेवर छायावादी काल में महादेवी वर्मा वाला ही रहा' –

मधुर–मधुर मेरे दीपक जल,
प्रियतम का पथ आलोकित कर ...

ऐसा ही कुछ मध्यवर्गीय स्त्रियाँ अपनी घुट्टी में पीकर आती हैं, प्रियतम का पथ तो आलोकित हो जाता है लेकिन उनके अपने कलेजे में ऐन लौ के बीचों–बीच एक अंधा पैच धक–धक धड़कता है। प्रियतम तो अपना पथ आलोकित पाकर धड़ से निकल जाते हैं बाहर – सैयां निकस गये/मैं न लड़ी थी। बिना लड़े भी वे साथ छोड़ जाते हैं, और अगर रहा न गया और लड़ ही पड़े तब एक विकट फूँक आखिर जीवन की लौ ही बुझा देती है और पटककर चूर कर दी जाती है यह मिट्टी की काया :

मधुवन के आँगन को देखो,
कितने इसके प्याले छूटे
कितने इसके मधुघट फूटे –
जो, फूट गए फिर कहाँ जुड़े,
पर बोलो फूटे प्यालों पर कब मधुवन शोक मनाता है
जो बीत गई सो बात गई।

बच्चन की इन पंक्तियों से प्रीति–कलह करें तो कहना पड़ेगा – मधुवन काहे को शोक मनाने लगा। बर्बादियों का शोक नहीं, उसका जश्न मनाना इसकी नैतिकता में शामिल है। शोक मनाने का पूरा प्रशिक्षण तो मध्यवर्गीय स्त्रियों के हिस्से था ही।

'मल्टी प्लगिंग' से फ्यूज़ तो उड़ता ही है। यह, वैसे तो सभी वर्गों की स्त्रियों का सच है, किंतु मध्यवर्गीय स्त्रियों का नेक लड़की सिण्ड्रोम हर मोर्चे

पर और हर रिश्ते में एवन होकर दिखलाने का विकट तनाव उनमें भरता है : बाद की कविताओं के साक्ष्य से हम यह कर सकते हैं कि ये कविताएँ अपने युग का वेदर कॉक थी, आनेवाला मौसम इनमें अपनी पहली जुम्बिश दर्ज कर रहा था ।

* * *

निष्कर्ष की ओर

स्त्री–मुक्ति हमेशा से वि–उपनिवेशन की परियोजना का एक महत्त्वपूर्ण पहलू रहा है। चूँकि साम्राज्यवादी ताकतें समाज–सुधार का काम–धाम फैला कर अपनी छवि सुधारने की अनवरत कोशिश कर रही थीं, 'सुधार' का ध्यान बिगाड़ की ओर जाना ही था। सबसे ज़्यादा बिगड़ी हुई स्थिति थी स्त्रियों की, इसलिए उनकी स्थिति को निवेदित कई बिल पास हुए। बाल–विवाह पर अंकुश लगाने वाले शारदा ऐक्ट के अलावा भी 1829 में सती–प्रथा के खिलाफ़ और 1850 में विधवा–विवाह के समर्थन में बिल पारित हुए। इनसे स्थानीय नेताओं की चेतना में यह बात रेखांकित हुई कि स्त्रियाँ भी इंसान ही हैं, और स्त्री–शिक्षा तथा स्त्री–स्वास्थ्य पर ध्यान देना आंदोलन के लिए भी हितकर होगा। लुब्बेलुबाव यह कि अगलगी में कुत्ते को नफ़ा हो न हो, साम्राज्यवादी और साम्राज्यविरोधी ताक़तों की मुठभेड़ में स्त्रियों को स्पष्ट लाभ हुआ, जैसे कि शहरीकरण से दलितों को। स्त्रियों को कम–से–कम शिक्षा की आँख मिली – ख़ासकर मध्यवर्ग में। शिक्षा की आँख मिल गयी तो वह मारक स्थिति भी गयी जिसके बारे में बाइबिल कहती है : सीइंग दे डोंट सी, हियरिंग दे डोंट हियर।' 1920 तक गाँधीजी के मन में भी यह साफ़ हो गया था कि स्त्रियों के नैतिक, मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक सम्बल के बिना राष्ट्रीय आंदोलन परवान चढ़ ही नहीं सकता। उनके मन में यह भी ज़रूर साफ़ हुआ होगा कि एक महानाट्य जो उन्हें चौराहों पर आयोजित करना है, उसमें स्त्रियों की बड़ी भूमिका होगी। जैसा कि हम सब समझते ही हैं, ग़रीबों और वंचितों के घटनाविहीन जीवन में राग–रंग पूरित नाटकीयता का एक बड़ा मंच धर्म है, शायद इसी ख़ातिर ग़रीब देश ज़रा ज़्यादा ही धार्मिक रहे हैं। धर्मप्रवण देश के राजनेता भी ख़ूब समझते हैं कि भव्य नाटकीय/काव्यात्मक/महाकाव्यात्मक दृश्यविधानों के बिना जन–जीवन स्पंदित नहीं हो पायेगा।

गाँधीजी ने भी बुद्धिमत्तापूर्वक ऐसे कुछ नाटकीय/महाकाव्यात्मक क्षण ऐन चौराहों पर मंचित किये जिनसे जन–जीवन स्पंदित हो जाए। इस व्यूह–रचना में उन्होंने अद्‌भुत प्रतीक–योजना का सहारा लिया – नमक, चरखा, लाठी, लँगोट, ब्रह्मचर्य, वस्त्र–दहन, आभूषण–दान, अनशन–पिकेटिंग यानी कि खटवास–पटवास लेने, त्रिया–हठ ठानने की लोकप्रचलित प्रविधि – ध्यान से देखा जाए तो गाँधीवादी रणनीति के एक–एक अवयव का संबंध स्त्री–जीवन की अंतरंग दैनंदिनी से है। सविनय अवज्ञा (अवज्ञा मगर सविनय) की पूरी तकनीक ही दरअसल स्त्री–भाषा की तकनीक है। गाँधी ने सत्याग्रह की घरेलू तकनीक को बड़ा राजनीतिक वितान दिया। युगों से उपेक्षित स्त्रियों के अवचेतन पर इस काव्यात्मक प्रतीक–योजना का गहरा प्रभाव पड़ा। इस आश्वासन से वे बेहद आह्लादित हुईं कि एक बड़े अभियान में उन्हें भी शामिल किया गया है। इसका एहसास हमें उस समय के स्त्री–लेखन से होता है और लोकगीतों तथा लोक–आख्यानों से भी, जिनकी रचयिता अक्सर लोरी गातीं, चरखा चलातीं, किसी घाट पर साथ मिलकर कपड़े पछीटतीं, धान कूटती स्त्रियाँ ही होती हैं।

उस समय की सब लेखिकाओं और लोक–गायिकाओं के मन में एक नये पुरुष की प्रतीक्षा है। पुरुष जो साथी होगा, स्वामी नहीं ! महादेवी वर्मा के गीतों का चिरप्रतीक्षित पुरुष ऐसा ही पुरुष है। स्त्री–मन में उसकी कल्पना जग गयी है लेकिन हाड़–मांस ओढ़कर वह अभी तक सामने नहीं आया है। सुभद्राजी की कविता 'वीर' और 'वात्सल्य', दोनों रसों का सम्यक संतुलन नयी स्त्री में घटित करती है – 'मरदानी' का शब्द–विचलन, 'एकादशी' का राजनीतिक विनियोग और बिल्कुल नये संदर्भों में भारतीय मोटिफ़ों का पुनःरोपण इनकी भाषिक सजगता का उत्कट प्रमाण है। 'सुगृहिणी', 'चाँद', 'स्त्री' आदि में प्रकाशित अन्य स्त्री–रचनाकारों की भाषा, उनके तेवर, उनकी प्रश्नबहुलता, उनका व्यंग्य–विनोद भी 'कांतासम्मत' उपदेश के घेरे के बाहर जाते हैं। उन सबकी भाषा में कभी तो सविनय अवज्ञा के (संयत ढंग के) पुरमज़ाक तेवर का जायज़ा मिलता है, तो कभी मीरां के बिंदास विद्रोह की आहट मिलती है।

ज़्यादातर कृतियों में स्त्रियाँ स्वयं अपना या अन्य स्त्रियों का उद्‌बोधन करती जान पड़ती हैं और उनके चित्त में एक ऐसे राष्ट्र का सपना अँगड़ाई

लेता–सा जान पड़ता है जहाँ परम्परा से रूढ़ियाँ बीन–फटक ली जाएँगी, वर्गों–वर्णों–सम्प्रदायों के बीच, अंग्रेज़ों और भारतीयों के बीच और स्वयं स्त्री–पुरुष के बीच भी भेड़–भेड़िये वाला रिश्ता न होकर सम्यक मैत्री का रिश्ता होगा और, उस स्तर के क्रीड़ा–कौतुक का भी, जो मीरां की काव्यभाषा के आनन्दातिरेक, उसकी प्रफुल्लता में कलकल–छलछल बहता है।

भारतीय परम्परा की बैटरी आधुनिकता के नये सॉकेट में रीचार्ज होने देना स्त्री–भाषा की एक बड़ी चुनौती तब भी थी और अब भी है! वर्ग–वर्ण–सम्प्रदाय और लिंगगत भेदभाव की संरचनाओं से मुक्त, पशु–पक्षी और पूरी प्रकृति के प्रति संवेदनशील एक बृहत्तर बंधु–परिवार का स्वप्न स्त्री–साहित्य देखता है, और उसकी भाषा–शैली भी वही सारे पदानुक्रम तोड़ कर सारे ध्रुवान्तों को एक चटाई पर बिठाने का वही जनतांत्रिक मॉडेल प्रतिबिम्बित करती है – वहाँ भी सारे पदानुक्रम तोड़कर, दौड़कर गले मिलते हैं कॉस्मिक और कॉमनप्लेस, मैक्रो और माइक्रो, पर्सनल और पॉलिटिकल, गँवई और शहराती, लोक और शास्त्र, कल्पना और जल्पना ! एक पंक्ति में कहें तो कथ्य यहाँ शिल्प में भी परावर्तित है।

सूर्योदय के पहले सूर्याभास होता है; स्पष्ट निर्णयों के तेज के पहले भाषिक अवचेतन सूर्योदय की लाली दर्ज कर रहा था ! 'बीती विभावरी, जाग री/अम्बर–पनघट में डुबो रही/तारा घट ऊषा नागरी' के विराट बिम्ब की परछाईं स्त्रियों के भाषा–जल में भी लगातार स्पंदित दिखाई देती है और इस स्पंदन की प्रकृति कहीं–न–कहीं तो मीराबाई और अन्य भक्त कवयित्रियों से भी जुड़ती है।

जहाँ तक महादेवी का प्रश्न है, 'यह विरह भी रात का कैसा सवेरा है' आदि दो–चार कविताओं को छोड़ दें, तो कविताएँ राजनीतिक चेतना की धमक से दूर ही रखी गयीं। सारे सामाजिक सरोकार गद्य के ही हिस्से आये। भूले से भी इस कोठी का धान उस कोठी न गया। आखिर क्यों ? शायद इसलिए कि सामाजिकता बहुमूल्य धन थी। बहुत परिश्रम और लम्बे इंतजार के बाद हमें जो भी मिलता है, हम उसे बचा–बचाकर खर्च करते हैं, खासकर कविता में। कविता पोस्ट ऑफिस का जमाख़ाता है, लम्बी अवधि का लॉकअप उस पर होता है। उसका ब्याज हरसट्ठे आपके हाथ नहीं

आता और रह–रहकर आप उसमें कुछ जमा भी नहीं कर सकते। पर गद्य का खाता आवर्ती जमा खाता है तो राजनीतिक संदर्भ वहाँ बखूबी खिले। इसके अलावा 'जनाना' आदि में अंग्रेजी पढ़ाने आयी मेमसाहिबों की नर्सरी राइमों के जैसे फ़ितना अनुवाद सड़क पर प्रचलित हुए, वे भी ग़ौर करने लायक हैं। उनमें कहीं भी नहीं है सविनय अवज्ञा का सौष्ठव, भगतसिंह वाला क्रांतिकारी तेवर है वहाँ या फिर भ्रमरगीत वाला लौंगिया चरपरापन, जहाँ भाषा बगावत का औजार बनती है। पर 'सविनय अवज्ञा' के आसपास के शिष्ट स्त्री–साहित्य पर, गाँधी बाबा से वैसी ही गपशप दर्ज है जो 'कलकत्ता पर बजर गिराने' से पहले चम्पा त्रिलोचन से कहती है या मिनी रवींद्रनाथ ठाकुर से। उस गपशप में भी विनय तो है, पर हल्की अवज्ञा की आहट के साथ।

जहाँ स्त्रियाँ गाँधीजी से सहमत हैं, वहाँ तो विनय है, बाकी प्रश्नबिद्ध बंकिमता है जिसे प्रकट अवज्ञा की श्रेणी में रख सकते हैं। पर अधिकांशतः भाषा में महीन अवज्ञा की सारी तकनीकें परावर्तित हैं। 'मैक्रो' और 'माइक्रो', 'पॉलिटिकल' और 'पर्सनल' के बीच तकली घुमाती हुई–सी या कहिए, क्रोशिया घुमाती हुई–सी यह भाषा है : अपना चरखा चलाती भाषा, कछारों पर अपना ही नमक बनाती हुई भाषा, 'स्त्रीपत्र' की मृणालिनी वाली भाषा, 'नष्टनीड़' की चारू ने अपने देवर, अमल, की लच्छेदार, रोमानी भाषा का प्रभाव काटकर अपनी जो प्रांजल भाषा अर्जित की है, वह भाषा – सहज–सरल, सुंदर, बातचीत की भाषा। धीरे–धीरे ही सही, वजूद का जकड़ा दरवाज़ा खुल तो रहा है। 'सविनय अवज्ञा' के वैसे तो कई उदाहरण हो सकते हैं। बानगी के लिए एक ही उठाती हूँ – श्रीमती स्नेहलता, बीए के 'विवाह समस्या' नामक लेख से :

''बहुत से मनुष्य इसे कलियुग का अंत ही समझेंगे किंतु जब विवाह–व्यवस्था का अंत हो जाए ... बदमाश या गुण्डे रहेंगे ही नहीं ... व्यभिचार, स्त्रैणता, विलास आदि गुण बढ़ेंगे नहीं, बल्कि बहुत कम हो जाएँगे। प्रत्येक व्यक्ति में पाचन–शक्ति भिन्न हुआ करती है, उसी के अनुसार वह अपने स्वास्थ्य का नियम बनाता है। ... (तृप्त मनुष्य ही) गूढ़ता पर विचार कर पायेगा ! ... हमें गुलाब और चमेली, दोनों प्रिय हो सकते हैं। एक स्त्री के निकट एक पुरुष विद्वत्ता के कारण, दूसरा शारीरिक सौंदर्य के कारण, तीसरा आत्मा और चरित्र की पवित्रता के लिए और चौथा देशभक्ति और त्याग के लिए

प्रशंसनीय हो सकता है। एक संकीर्ण घेरे में बाँधने से प्रेम का गला घुटता है।''[20]

इस तरह के सधे हुए क्रोध का सर्जनात्मक उपयोग आये दिन स्त्रियाँ करती रहती है। – करवट बदलकर, खाना–पीना छोड़कर ... उसी तरह का 'पैसिव प्रतिकार' गाँधीवाद है जिसकी वकालत पश्चिम में थोरो, टॉल्सटॉय या यॉस्नाया पोलियाना ने की थी। गाँधी का महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि बड़े राजनीतिक फलक पर उन्होंने यह कर दिखाया और इसको दिखाने में स्त्री–शक्ति का स्पष्ट आह्वान किया। इतने व्यावहारिक वे थे कि स्पष्ट देख पाते कि जिस तरह का आत्मबल त्याग–तपस्या से पैदा होता है, स्त्रियों के पास उसका स्रोत अक्षुण्ण है।

किताबें तो गाँधी ने चार ही लिखीं, बाकी नन्ही सलाहें, उपदेश और अभिमत हैं – पत्रों–प्रश्नों के जवाब ! सार्वजनिक चिंतन की बहुतेरी विसंगतियाँ वहाँ हैं, पर उनका रेंज, आत्मीयता और चुटीलापन वही है जो कांतासम्मत उपदेशों की अभ्यस्त महिला–समाज की 'टॉक स्टोरीज़' का होता है। खान–पान के संयम से लेकर बड़े राजनीतिक मसविदे तक, कुछ भी वे उसी सहजता से बाँच जाते हैं जिससे स्त्रियाँ दैनंदिन कलाप बाँचती हैं। बात शुरू होती है मैक्रो प्रसंग से और टेलिस्कोपन तकनीक से छोटी होती–होती अंतरंग मशविरे का रूप ले लेती हैं। कभी–कभी इसका उलटा भी होता है, पर कुल मिलाकर पदानुक्रम टूटता जरूर है मैक्रो–माइक्रो, सार्वजनिक और निजी के बीच का।

स्वराज और सर्वोदय गाँधी के लक्ष्य थे, सत्य–अहिंसा, सादगी और श्रम की गरिमा उनके मूल सिद्धांत, और भूदान, नयी तालीम और गृह–उद्योग उनके साधन। प्रतिपक्षी की आँखें खोलने में भाविक ऊर्जा या तर्कमयता का इस्तेमाल तो होगा ही, और होगा नाटकीय वैभव और चुटीलापन – स्त्री की भाषा वाला चुटीलापन, त्रियाहठ और बालहठ का अनुपम संयोग होगा और होगी बाँकी–सी ज़िद यह स्थापित करने की कि प्रयोग सिर्फ़ वैज्ञानिक ही नहीं करते, सत्यान्वेषी भी करते हैं, सत्य सिर्फ वस्तुनिष्ठ नहीं होता, आत्मनिष्ठ भी होता है। 'अहिंसा' के विज्ञान का प्रसार सत्य करेगा – सत्य जो प्रत्येक व्यक्ति अपने ढंग से अर्जित करेगा, जैसे प्रयोगशाला में हर व्यक्ति अपना प्रयोग अलग करता है। किसी मनोवैज्ञानिक युद्ध में तथ्य को जोड़–मरोड़कर

पेश करने की प्रवृत्ति तो होती है, इस प्रवृत्ति से बचना है! जीतना है लेकिन विकृत साधनों से नहीं, उन्हीं साधनों से जो ग़रीब से ग़रीब व्यक्ति के पास होते हैं, हो सकते हैं अर्थात् 'स्वाभिमान' और 'गरिमा'। एक दमनचक्र का जवाब दूसरे से नहीं देना, टी. वॉशिंगटन की बात हमेशा याद रखनी है : 'लेट नो मैन पुल यू सो लो ऐज़ टु मेक यू हेट हिम।' अक्षुण्ण प्रेम का यह मनोभाव भी गाँधी को स्त्री–पक्ष से जोड़ता है, और बात को बार–बार अपने अनुभवों की ओर मोड़ने की प्रवृत्ति भी उन्हें उनसे जोड़ती है।

अनुभव से जानती थीं स्त्रियाँ कि निरंकुशता द्वारा दिया गया आदेश कितना भयावह होता है। अपने आप में दुष्टता जितनी भयावह होती है, उससे भी ज़्यादा भयावह है यह! हमारी आरंभिक हिंदी – रचनाकारों की ज्यादातर रचनाएँ ये भी बताती हैं कि असली तालीम तो स्कूल ख़त्म होने के बाद शुरू होती है। अपना सबसे बड़ा अध्यापक व्यक्ति स्वयं होता है, सबसे बड़ा विद्यालय तो अनुभव ही हैं।

हाड़–मास की गुड़िया के ऊपर भी स्त्री कुछ है – विश्वसखा, विश्वभगिनी; 'प्रोडक्शन' और 'रीप्रोडक्शन' के ऊपर भी उसकी बड़ी भूमिका है, आत्मबल पशुबल से कई गुणा बड़ा है, यह बात उस वक़्त के लिए बड़ी भी है। दर्शन को निरी बौद्धिकता की कारा से आजाद करके राजनीति को दर्शन का पुट दिया, नैतिक विकास का श्रेय स्त्री–शक्ति को : यही गाँधी का योगदान है। लेकिन जैसा कि तनिका सरकार, मधु किश्वर आदि के आलेख सिद्ध करते हैं, उस समय के स्त्री–विषयक चिंतन में कुछ अंतर्विरोध भी थे, और मेरी अपनी मान्यता यह है कि यही अंतर्विरोध स्त्री–भाषा सविनय अवज्ञा के साथ उद्घाटित किये जा रही थी।

एक देश के जीवन में जो ऐतिहासिक यानी नाटकीय मोड़ आते हैं – उनका मंचन दोहरा होता है – एक मंचन युद्धभूमि में, सड़कों पर, भूमिगत दस्तों में, कहवा–घरों में, पार्टी दफ्तरों में, पबों में, अखबार में दफ्तरों में, स्कूल–कॉलेजों, नाट्य संस्थानों, मन्दिरों–मस्जिदों–गिरजाघर के प्रांगणों में, रजवाड़ों में, संसद में – और उसके समानान्तर एक और जगह जिसको 'घर' कहते हैं। जो भी लड़ाइयाँ बाहर लड़ी जाती हैं – जो भी कारस्तानियाँ बाहर की जाती हैं – उसका यथोचित बखान– उचित सम्पादन के साथ –

यानी कहीं से बढ़ाकर, कहीं से घटाकर पत्नी–बच्चों–भाई–बहनों–बुजुर्गों के सामने पुरुष करते हैं और यही छने–छनाए उपाख्यान, ये फिल्टर्ड नैरेशन स्त्री–मन और बाल–मन में ऐसा छायाचित्र रचते हैं जिसमें यह सुना–सुनाया इतिहास अपने ढंग से, दुबारा रचने का संकल्प धीरे–धीरे अपने रंग भरने लगता है। जो भी सुना गया, उसे अन्तर्मन में दर्ज करते हुए भी एक स्वचालित सम्पादन चलता रहता है यानी कि उसकी आलोचना–प्रत्यालोचना चलती रहती है, गृहीता के संस्कार कुछ बातों का काल्पनिक विस्तार करते हैं, कुछ का अन्यमनस्क सम्पादन।

स्वाधीनता संग्राम के दौरान स्त्रियों की जो भी इतिहास–दृष्टि बनी – स्त्री–साहित्य में उसकी परछाइयाँ हैं ! यह ऐसा समय था जब स्त्रियाँ गौरव–गाथाओं का और दमनचक्रों का मूक श्रोता–भर नहीं थीं, द्रष्टा, अभिनेता, योद्धा भी थी। सुने और देखे हुए के बीच का, कल्पना और जल्पना के बीच का फर्क उस वक्त के पूरे साहित्य में दर्ज है ! सत्य एक बड़े मूल्य, बल्कि एक बड़े हथियार की तरह उभरा था, इसलिए सुने और देखे हुए का, कथनी और करनी का भी फर्क उतना नहीं था और हर बड़ा कवि संकल्पसिद्ध मौन में तपने का आदर्श रखता हुआ कुछ ऐसा ही सोचता था :

> "वक्त आने पर दिखा देंगे तुझे ऐ आसमां,
> हम अभी से क्या बताएँ, क्या हमारे दिल में है !" (बिस्मिल)

वक्त एक बड़ी दराज, एक बड़ी जेब तो है ही ! वह अपने संकल्प, अपने सपने और स्मृतियाँ उसी में तहाकर छुपा लेता है। और इंतजार करता है उस घड़ी का जब वह अपने पूरे मर्म में उसका उद्‌घाटन पाए।

'मनसाचिन्तित कर्मणावचसा न प्रकाशयेत/अल्यलक्षित कार्यस्य यतः सिद्धि न जायते' – स्त्रियों से ज्यादा इस बात का मर्म कौन समझेगा भला ! 'विनय पत्रिका' में तुलसीदास सीता से कहते हैं कि माता, उस समय मेरी अर्जी लगाना रघुवीर के आगे जब उनका चित्त प्रसन्न हो यानी कि मूड ठीक हो ! स्त्री से ज्यादा पुरुष का मूड ताड़नेवाला होगा भी कौन ! ज़िंदगी मुँह ताकते बीत जाती है ! अपनी मनौतियाँ और चुनौतियाँ भी वे अभेद्य गाँठ में छुपाकर रखती हैं जब तक कहने की 'साइत' अच्छी न हो।

स्त्रियों के संदर्भ में अच्छी साइत की प्रतीक्षा थोड़ी ज्यादा ही लम्बी हो गई !

बात बहुत लम्बी न हो, इसलिए स्वाधीनता संग्राम के सात चरणों पर ही टिकते हैं। जैसे की तपती दोपहरी के बाद आषाढ़ की बूँदें अलग–अलग प्रांगणों में अलग–अलग ढंग से उतरती हैं, स्वाधीनता के पूर्वाभास की स्वाति–बूँद अलग–अलग स्पेसों में अलग–अलग रूप में उतरी : 1905 में बंग–भंग से लेकर 1947 में देश के अंग–भंग तक स्वाधीनता आंदोलन के सात प्रमुख चरण थे – (1) स्वदेशी आंदोलन (1905–1908); (2) सशस्त्र प्रतिरोध के प्रश्न पर कांग्रेस–भंग, विश्वयुद्ध के बाद अमरीका–कनाडा में पनपा गदर आंदोलन और उसके समानान्तर देश में चल रहा एनी बेसेण्ट प्रवर्तित होम–रूल आंदोलन; (3) असहयोग आंदोलन (1920–1922); (4) मजदूर आंदोलन एक तरफ और दूसरी ओर गुरुद्वारा–सुधार और मन्दिर–प्रवेशधर्मी सुधारात्मक आवेग (1920–1930); (5) सविनय अवज्ञा (1930–1932); (6) रजवाड़ों में आंदोलन की लहर; और (7) भारत छोड़ो आंदोलन और आई. एन.ए.।

हिन्दी साहित्य में ये छायावाद के उभार के दिन थे। भारतेन्दु युगीन स्त्री–चेतना एक तरफ और परवर्ती प्रगतिशील चेतना दूसरी ओर, बीच का स्त्री साहित्य मुख्यतः पढ़े–लिखे परिवारों की उन स्त्रियों का साहित्य था जिनके पिता, पति, भाई, गुरु या अन्य शुभैषी किसी–न–किसी तरह स्वाधीनता आंदोलन से जुड़े थे और स्त्री शिक्षा में जिनकी आस्था थी ! पर पते की बात यह है कि बाकी जो स्त्रियाँ थीं, जिन्हें शिक्षा के प्रकाश से वंचित रखा गया था, वे भी मुक्ति–चेतना से अछूती नहीं थीं ! कोठों का अभिशप्त जीवन जीने वाली स्त्रियों ने भी महेन्द्र मिश्र, भिखारी ठाकुर, ईसुरी और अन्य जनकवियों द्वारा रचित मुक्ति के द्वयार्थक गीत गाये, फारसी–उर्दू में दीक्षित कुछ तवायफों ने अपना अखबार भी ज़ारी किया, किसानिनों–मजदूरनों और दलित–आदिवासी स्त्रियों ने मुक्तिचेतनादीपित लोकगीत रचे ! गाँधी ने स्त्री चेतना में विश्वास व्यक्त किया, उसके समानान्तर पश्चिम में सर उठा रही स्त्री–चेतना सिस्टर निवेदिता, अरविन्दाश्रम की 'मदर' और एनी बेसेण्ट, मार्गरेट ई. कजिन्स, पण्डिता रमाबाई सजग विदुषियों के माध्यम से और 'चाँद' सदृश कई हिन्दी जरनलों के माध्यम से नवशिक्षिताओं का चित्त–विस्तार

करती रही।

इस प्रसंग में कुछ विशिष्ट लेखों, कविताओं और कहानियों का विश्लेषण जरूरी है जो महादेवी वर्मा – सम्पादित 'चाँद' के 'विदुषी' अंक में प्रकाशित हुए; इनके अलावा सिमोन द बोउआ के 'द सेकेण्ड सेक्स' के पहले प्रकाशित 'शृंखला की कड़ियाँ' (महादेवी के सम्पूर्ण स्त्रीवादी लेखों का संकलन), उनका समस्त गद्य और कविताएँ, स्त्री चेतना के अनवरत विकास का साक्ष्य वहन कहता बंगमहिला, मल्लिका, होमवती, गोपाल देवी, सुभद्रा कुमारी चौहान, शिवरानी प्रेमचंद, श्रीमती स्नेहलता, कौशल्या देवी, उषामित्रा देवी, सुमित्रा सिन्हा और अन्य प्रगतिचेता महिलाओं का साहित्य हमारे सजग विश्लेषण का विषय हो सकते हैं। इनके पाठीय अवचेतन के सहज विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि यहाँ संस्कृत काव्य में उत्कीर्ण कांतासम्मत उपदेश 'सविनय अवज्ञा' के तेवर में अयां होता है। परवर्ती स्त्री–साहित्य की अवज्ञा 'सविनय' दीखने की चिंता नहीं करती, थोड़ी तुर्शी लाती है अपनी भाषा में और समकालीन स्त्री–साहित्य तक आते–आते यह तुर्शी एक हँसमुख दोस्त–दृष्टि में परिणत हो जाती है।

संदर्भ

1. गोपाल देवी, स्त्री काव्यधारा, जगदीश्वर और सुधा सिंह (सम्पादित) अनामिका, 2006, पृ. 160.
2. वही, पृ. 161.
3. प्रियम्वदा देवी, वही, पृ. 191.
4. बुंदेलबाला, पृ. 188.
5. पूर्णप्रकाश चंद्रमा, मल्लिका, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सं. 2058, अंक–2, पृ. 134
6. मल्लिका, कुमुदिनी (नवम परिच्छेद) डॉ. बटेकृष्ण और गिरीश चंद्र चौधरी द्वारा सम्पादित, कथादेश, जुलाई, 2007 में प्रकाशित।
7. हरदेवी हुक्म देवी, पृ. 49, 50 (आवरण पृष्ठ पर प्रकाशन वर्ष का उल्लेख नहीं है किंतु एक पात्र – मदनलाल कथा–प्रवाह में एक पत्र लिखता है, उसपर 15 जून, 1892 की तिथि है जिससे पता चलता है कि उस तिथि के पहले यह उपन्यास लिखा गया था ! मुखपृष्ठ पर अँगरेजी में ("A True Tale of a Virtuous Hindu Lady, Srimati Hardevi") बच्ची हुक्मदेवी के वैधव्य का चित्रण।
8. वही,पृ. 20–21.
9. बंग महिला, दुलाईवाली, 1907, मार्च, सरस्वती।
10. सम्पादकीय, अनाम, आर्यमहिला, 1918.
11. अज्ञात, समालोचना, स्त्री दर्पण, अक्तूबर, 1918.
12. वही।
13. क्या–क्या सीखना चाहिए, गृहलक्ष्मी, मई–जून, ज्येष्ठ, 1913.
14. वही पृ. 52.
15. शिवरानी प्रेमचंद, सिंदूर की रक्षा, कौमुदी, हिंदी साहित्य का ओझल इतिहास, नीरजा माधव, सामयिक, 2012, पृ. 97–98.
16. होमवती देवी, 'त्याग' विसर्ग, साहित्य रत्न भण्डार, आगरा, 1939, पृ. 73.
17. महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1932 पृ. 47.
18. कमला देवी, पतन, चाँद, नवम्बर, 1935, पृ. 41.
19. चंद्रकिरण सौनरेक्सा, जवान मिट्टी, रूपाभ, 1938, पृ. 33.

20. श्रीमती स्नेहलता, बीए (1932), 'विवाह समस्या', चाँद, विदुषी अंक, महादेवी वर्मा (सम्पा), खण्ड 2, वर्ष 14, पृ. 40.

नोट : महादेवी की कविताएँ अनामिका द्वारा सम्पादित और वाणी द्वारा 2012 में प्रकाशित 'पचास कविताएँ' से उद्धृत हैं, फैज की कविता राजकमल द्वारा प्रकाशित 'प्रतिनिधि कविताएँ' से! सुभद्राकुमारी चौहान भी कविता अनामिका द्वारा सम्पादित और साहित्य अकादेमी से प्रकाशित 'भारतीय स्त्री कविता' से उद्धृत है।